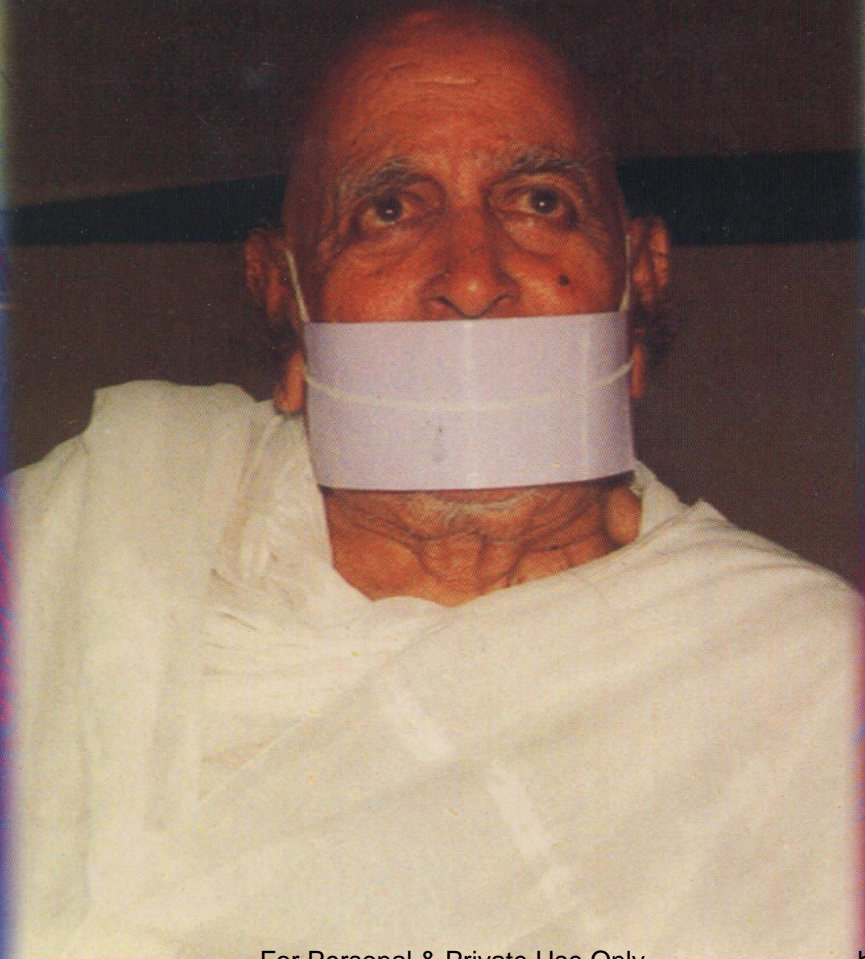


तुलसी वाङ्मय

जागो ! निद्रा त्यागो !!

आचार्य तुलसी



तुलसी वाङ्मय

प्रवचन पाथेय ग्रंथमालाह्र१२

जागो! निद्रा त्यागो!!

आचार्य तुलसी

जैन विश्वभारती प्रकाशन
लाडनूं

जागो! निद्रा त्यागो!!

आचार्य तुलसी

संपादक :

मुनि धर्मरुचि

प्रकाशक :

जैन विश्वभारती

लाडनूं (राज.) ३०४३०६

© प्रकाशकाधीन

संस्करण : २००३

मूल्य : रुपये मात्र

आवरण :

मुद्रक :

सांखला प्रिटर्श, सुगन निवास

चंदनसागर, बीकानेर ३३४००१ (राज.)

JAGO ! NIDRA TYAGO!! ISBN 81

by Acharya Tulsi

Rs.00.00

चार

स्वकथ्य

साहित्य की अनेक विधाएं हैं। हर विधा अपने क्षेत्र में उपयोगी और महत्वपूर्ण होती है। उपयोगिता की दृष्टि से किन्हीं दो विधाओं की तुलना नहीं हो सकती। रुचि, अभिव्यक्ति, भाषा आदि के आधार पर भी साहित्य को अनेक भागों में विभक्त किया जा सकता है। कोई भी भाषा हो, समग्र साहित्य के दो रूप हैं विद्वद्भोग्य और जनभोग्य। विद्वद्भोग्य साहित्य की भाषा, शैली और विषयवस्तु स्तर की होती है। उसे पढ़ने के लिए विकसित मस्तिष्क, एकाग्रता और अनुकूल पृष्ठभूमि की अपेक्षा रहती है। जनभोग्य साहित्य मां के दूध की तरह सबके काम में आनेवाला होता है। उस साहित्य का एक उत्स है प्रवचन।

प्रवचनकार प्रवचन करता है। उसके समाने जनता होती है। जनता में विद्वान और साधारण जनहृदयों प्रकार के व्यक्ति होते हैं। वे उस समय ऐसी बातें सुनना चाहते हैं, जो सुनने के साथ-साथ आत्मसात हो जाएं। उस समय पांडित्य के प्रदर्शन की अपेक्षा नहीं रहती। जनभाषा, जनजीवन के लिए उपयोगी बातें, जन-समस्याएं एवं उनके समाधान, जनता की अपेक्षाएं और प्राथमिक रूप की तात्त्विक एवं सैद्धांतिक चर्चा इन बिंदुओं को ध्यान में रखकर किया जानेवाला प्रवचन सहज रूप में जनभोग्य बन जाता है। उसमें कई बार पुनरुक्ति हो सकती है, पर भिन्न-भिन्न दृष्टियों से प्रतिपादित एक ही बात अपनी उपयोगिता के आगे प्रश्नचिह्न नहीं लगने देती।

जैनविद्यामनीषी श्रावक श्रीचंदजी रामपुरिया प्रवचन-साहित्य का बहुत मूल्यांकन करते हैं। वे बहुत बार कहते हैं 'आचार्यों के प्रवचन का एक भी वाक्य खोना नहीं चाहिए।' श्रीचंदजी-जैसे उच्चकोटि के विद्वान और अनुभवी व्यक्ति के मुंह से ऐसी बात सुनकर कभी-कभी मन में संकोच-सा हो जाता है। पर यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि प्रवचनों का साहित्य के रूप में संकलन करने का काम इन्हीं के द्वारा

प्रारंभ किया गया। रामपुरियाजी द्वारा संकलित पुस्तकें *प्रवचन डायरी* नाम से प्रकाशित हुईं।

प्रवचन-संकलन का सिलसिला चला तो चलता ही चला। समय-समय पर वे पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे। हमारे अनेक साधु-साध्वियों ने अपना समय और श्रम लगाया और प्रवचन-साहित्य की धारा-सी बह चली। वह साहित्य पहले भिन्न-भिन्न नामों से प्रकाशित हुआ, फिर *प्रवचन पाथेय* में परिणत हो गया।

जागो! निद्रा त्यागो!! 'प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला' का १२वां पुष्प है। इसमें मुख्यतः सन १९६५ में हुई श्रीगंगानगर-यात्रा के प्रवचन संकलित हैं। इनका संकलन साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा ने नहीं, साध्वी कनकप्रभा ने किया। इन वर्षों में प्रवचन-संकलन का काम मुनि धर्मरुचि कर रहा है। साध्वीप्रमुखा ने प्रवचनों की फाइलें इसे सौंप दीं। मुनि धर्मरुचि की इस क्षेत्र में अच्छी पकड़ और गहरी लगन है। वह शरीर से दुर्बल है, पर बहुत श्रमशील है। जो काम हाथ में लेता है, उसे पूरी निष्ठा से करता है। वह मानता है कि प्रवचन सुनने और लिखने से उसे बहुत लाभ हुआ है।

सन १९६५ के प्रवचनों का संपादन सन १९९१ में हो, यह श्रम का दुरूह काम है। पर मुनि धर्मरुचि ने इसे सहज बना लिया। प्रवचनकार कोई, संकलनकर्ता कोई और संपादक कोई। लेकिन एक लक्ष्य से प्रतिबद्ध होने के कारण इनमें कहीं दुरूहता की झलक नहीं मिलती। जनभोग्य साहित्य की शृंखला में यह एक नई कड़ी जुड़ रही है। इसकी उपयोगिता का अंकन पाठकों पर छोड़कर मैं यही कामना करता हूँ कि इस क्षेत्र में काम करने के लिए और भी साधु-साध्वियां दक्ष बनें।

जैन विश्वभारती, लाडनू
२१ दिसंबर १९९१

आचार्य तुलसी

संपादकीय

उड़िए गो पमायएह्यह भगवान महावीर का संदेश है, बल्कि कहना यों चाहिए कि सभी तीर्थकरों का संदेश है, समूची ऋषि-परंपरा का संदेश है। ऋषि जागरण के प्रतीक होते हैं, जागरण की प्रेरणा होते हैं। वे स्वयं जागरण को जीते हैं और जन-जन को जागरण का संदेश देते हैं। इसलिए जागरण का यह संदेश उतना ही शाश्वत है, जितनी शाश्वत ऋषि-परंपरा।

आचार्यश्री तुलसी भारतीय ऋषि-परंपरा के एक उज्ज्वल नक्षत्र हैं। तेरापंथ धर्मसंघ उन्हें अनुशास्ता के रूप में पाकर गौरवान्वित हुआ है तो जैन-शासन उन्हें एक प्रभावक आचार्य के रूप में पाकर महिमामंडित बना है। पर इनसे भी विशिष्ट और व्यापक पहचान मिली है उन्हें एक मानव-धर्म के आचार्य के रूप में। इसका आधार बना हैहउनका जागरण संदेश। विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में यह जागरण-संदेश कभी अणुव्रत के रूप में प्रतिध्वनित हुआ है तो कभी शांति-शोध और अहिंसा प्रशिक्षण के रूप में। कभी इसे प्रेक्षाध्यान की भाषा मिली है तो कभी जीवन-विज्ञान की। हालांकि आचार्यश्री तुलसी का जागरण-संदेश जीवन-जागरण का संदेश है पर उसका दायरा इतना व्यापक है कि व्यक्तिगत से लेकर राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर तक उभरनेवाली समस्याओं का समाधान अनायास उसमें मिल जाता है। यही कारण है कि भले नई दिल्ली में *राष्ट्रीय एकता परिषद* की महत्वपूर्ण बैठक हो और चाहे इटली में धर्मगुरुओं की प्रतिनिधि सभा, आचार्यश्री की प्रत्यक्ष-परोक्ष उपस्थिति के लिए आग्रहभरा निवेदन रहता है; और व्यक्तिगत समस्याओं का समाधान पाने के लिए तो विभिन्न वर्गों, विभिन्न स्तरों के लोग सैकड़ों-हजारों की संख्या में उनकी प्रवचन-सभाओं में उपस्थित होते ही रहते हैं। मैं अनेक बार लोगों के मुंह से इस आशय की शब्दावली सुनता हूं कि आज आचार्यश्री ने समूचा प्रवचन मुझे लक्ष्य करके ही किया था। उसका प्रवचन सुनकर मेरी वर्षों की उलझन/समस्या

समाहित हो गई। मैं नहीं जानता, आचार्यश्री किस-किस को लक्ष्य करके प्रवचन करते हैं।..... पर इतना सुनिश्चित रूप से जानता और अनुभव करता हूँ कि आचार्यश्री के प्रवचनों से प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से लोगों की समस्याएं समाधान की राह पाती हैं।

मैं मानता हूँ, हर प्रवचनकार की प्रवचन करने की अपनी एक शैली होती है। आचार्यश्री की भी अपनी एक शैली है, विशिष्ट शैली है। उनके प्रवचनों में तत्त्व, दर्शन, संस्कृति, साहित्य, काव्य, आख्यान, संगीत, कथा, दृष्टांत, संस्मरण, घटना, लोकोक्ति, इतिहास, परंपरा, बीते कल की समीक्षा, आनेवाले कल की तस्वीर, वर्तमान युग-बोध, प्रेरणा, प्रशिक्षण, मार्गदर्शन, प्रयोग का जो मिला-जुला समृद्ध रूप देखने को मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। वे अपने प्रवचन के लिए कोई एक विषय लेते हैं, उसका प्रतिपादन शुरू करते हैं और उसके बीच में जो कोई विशेष शब्द, दार्शनिक या तात्त्विक संदर्भ, ऐतिहासिक प्रसंग या सामयिक-शाश्वत चर्चा समाने आ जाती है, उसकी कली-कली खोलते चलते हैं। इस प्रतिपादन में प्रायः ऐसा अनुभव किया जाता है कि आचार्यश्री ने अपना मूल विषय छोड़ दिया है और वे एकदम विषयांतर हो गए हैं। पर मुझे लगता है, यह स्थूल दृष्टि की बात है। सूक्ष्म दृष्टि की बात यह है कि आचार्यश्री बिलकुल अपने विषय पर चलते हैं। उनके प्रवचन का मूलतः एक ही विषय हैहज्जागरण। और यह जागरण का स्वर उनके प्रवचन-प्रवचन एवं प्रवचन के हर वाक्य-वाक्य तथा शब्द-शब्द में अनुगुंजित होता हुआ सुनाई देता है। इसको केंद्र में रखकर ही वे विभिन्न संदर्भों में अपनी बात कहते हैं। शुरू किया गया विषय तो बहुत गौण बात होता है। प्रवचनकार को कहीं-न-कहीं से तो अपनी बात का सूत्र उठाना ही होता है।

हालांकि आचार्यश्री के प्रवचनों में साहित्यिक गुण-सुमनों का सौरभ सहज रूप में महकता है, पर उनके प्रवचनों की विशेषता हैहउनकी सहजता, सुबोधता, हृदय को छूने की अर्हता और समस्याओं की समाधायक क्षमता। उनकी इस विशेषता को सुरक्षित रखने के लिए अपेक्षित है कि उनका उसी स्तर पर संकलन/संपादन हो। मैं इस दृष्टि से अपने-आपको बहुत अक्षम पाता हूँ। पर गुरु गुरु ही होते हैं। वे निर्माता होते हैं। ना-कुछ को भी बहुत-कुछ बना देते हैं। मिट्टी को भी घड़ा बना देते हैं। अपनी अक्षमता की अनुभूति के बीच भी इस सक्षमता को प्राप्त कर

मैंने आचार्यप्रवर के प्रवचनों के संकलन/संपादन का काम शुरू किया। उसके फलस्वरूप गत वर्षों में प्रवचन पाथेय के पुष्प क्रमांक ४,५,६,८ और १० प्रकाशित होकर जनता के हाथों में पहुंचे। इस क्रम में जागो! निद्रा त्यागो!! का यह बारहवां पुष्प जागो! निद्रा त्यागो!! के नाम से प्रकाश में आ रहा है। इसमें सन १९६५ के लगभग तीन महीनों के प्रवचन संकलित हैं।

जागो! निद्रा त्यागो!! की मूल सामग्री महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी ने इस दायित्व पर आने से पूर्व संकलित की थी। हालांकि उनका संपादन का जैसा अनुभव है, इस कार्य में उनकी जैसी त्वरित गति है और आचार्यप्रवर का उन्हें जैसा विश्वास प्राप्त है, उसे देखते हुए उनका संपादन उनके लिए सहज कार्य था। पर उन्होंने यह कार्य स्वयं न कर मुझे सौंपा। इसके पीछे उनका क्या दृष्टिकोण रहा है, यह वे ही जानती हैं। मैं तो ऐसा मानता हूँ कि यह मेरे संपादन की एक परीक्षा है। मैं नहीं जानता कि मैं इस परीक्षा में उत्तीर्ण घोषित किया जाऊंगा या अनुत्तीर्ण, पर मैं स्वयं अपने-आपको अनुत्तीर्ण नहीं मानता, क्योंकि किसी कार्य को निष्ठा और ईमानदारीपूर्वक करना ही मेरी उत्तीर्णता की कसौटी है। वैसे यह कार्य सौंपकर महाश्रमणीजी ने अपने हृदय की उदारता का परिचय दिया है। इसके निमित्त पूज्य गुरुदेव की इस कृति से जुड़ने का मुझे सहज अवसर प्राप्त हुआ। मैं मानता हूँ, गुरु की किसी कृति से जुड़ना किसी शिष्य के लिए अत्यंत सौभाग्य की बात है। महाश्रमणीजी को यह सौभाग्य सहज रूप से प्राप्त है। अपने इस सौभाग्य में उन्होंने मुझे भी सहभागी बनाया, इसके लिए मैं अत्यंत कृतज्ञ हूँ।

पूज्य गुरुदेव मेरी अंतहीन आस्था के केंद्र हैं। धर्मचक्र-प्रवर्तक भगवान महावीर तथा तेरापंथ-प्रणेता आचार्य भिक्षु और उनकी सात पीढ़ियों को देखने के सौभाग्य से मैं वंचित रहा हूँ। पर पूज्य गुरुदेव को देखता हूँ तो पाता हूँ कि उन सबके व्यक्तित्व की बहुत-सी विशेषताएं इस एक व्यक्तित्व में सन्निहित हैं। मुझे ऐसे महान गुरु मिले, इससे बढ़कर मेरे जीवन का और क्या सौभाग्य होगा! इस सौभाग्य की प्राप्ति के कारण मुझे उस सौभाग्य की अप्राप्ति का कोई गम नहीं है। जीवन के किसी क्षेत्र में मिलनेवाली सफलता उनके मंगल आशीर्वाद का ही सुप्रसाद है। इस कार्य की संपन्नता भी उनके आशीर्वाद की ही उपलब्धि है। चाहता हूँ, उनके इस आशीर्वाद की छत्रछाया में उनके हर आदेश/निदेश को उपलब्धि में बदलता रहूँ।

● ————— नौ ————— ●

संघपरामर्शक मुनिश्री मधुकरजी मेरे स्थायी संरक्षक हैं। उनका कुशल दिशादर्शन मेरे विकास की विभिन्न राहों को आलोकित करता रहा है।

संसारपक्षीया बहिन साध्वी निर्वाणश्रीजी का इस संपादन-कार्य में सहज सहयोग प्राप्त हुआ है। वे मेरे जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों के साथ प्रेरक और पूरक के रूप में जुड़ी हुई हैं। हालांकि साधु-जीवन की अपनी कुछ मर्यादाएं होती हैं, पर इस सीमा में भी छोटी बहिन के रूप में उनका जो सहयोग मुझे प्राप्त है, वह मेरी संयम-यात्रा के लिए बहुत मूल्यवान है। मैं चाहता हूँ, भाई-बहिन का यह तादात्म्य संबंध परस्पर सहयोग की राह से गुजरता हुआ ज्ञान-दर्शन-चारित्र की अभिवृद्धि में योगभूत बनता रहे।

मेरे अनन्य सहयोगी मुनि मुनिसुव्रतजी का उल्लेख करना नहीं भूल सकता। सेवा के उनमें सहज संस्कार हैं। पूज्य गुरुदेव की सेवा में तो उन्हें सहज आत्मतोष मिलता ही है, छोटे-बड़े किसी साधु की सेवा भी वे अत्यंत प्रसन्नता से करते हैं। वे मुझे अत्यंत आत्मीय भाव से सहयोग दे रहे हैं। उनके इस सहयोग के कारण ही मैं पुस्तक-संपादन के लिए पर्याप्त समय निकाल पाया।

पिछले दिनों एक वरिष्ठ समाजसेवी ने मुझसे कहाह 'महाराज! मैं इन दिनों प्रवचन पाठ्य पढ़ रहा हूँ। वह पुस्तक बहुत उपयोगी है।' ऐसी ही अनुभूति विदेश में कार्यरत एक प्रबुद्ध इंजीनियर की है। मैं मानता हूँ, आचार्यश्री के प्रवचन इतने हृदयग्राही हैं कि ऐसी अनुभूति किसी ग्राहक-बुद्धिवाले पाठक का होना बहुत स्वाभाविक है। जैसाकि आचार्यप्रवर ने मेरे लिए अपने स्वकथ्य में लिखा है, मैं स्वयं भी इन प्रवचनों के सुनने और लिखने से बहुत लाभान्वित हुआ हूँ। जिस प्रकार गुड़ सबके लिए मीठा होता है, उसी प्रकार आचार्यप्रवर के प्रवचन जन-जन के लिए मंगलकारी हैं। अस्तु, जागो! निद्रा त्यागो!! के रूप में प्रवचनों का यह संकलन लोगों के हाथों में है। लोग इसे पढ़ें, इस पर मनन करें और जागरण के संदेश को हृदयंगम कर अपने जीवन को सार्थकता की दिशा में मोड़ें। यही अपेक्षा है।

जैन विश्वभारती, लाडनू
२४ दिसंबर १९९१

हममुनि धर्मरुचि

प्रकाशकीय

जैन विश्वभारती द्वारा प्रकाशित साहित्य की शृंखला में प्रवचन-साहित्य का प्रकाशन एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। आचार्यश्री तुलसी के प्रवचनों के संकलन प्रवचन पाथेय के रूप में प्रकाशित होते रहे हैं। प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला का यह बारहवां पुष्प जागो! निद्रा त्यागो!! के नाम से प्रकाशित हो रहा है। इसमें सन १९६५ के लगभग तीन माह के प्रवचन संकलित हैं। यह संकलन पाठकों के लिए हृदयस्पर्शी होने के साथ-साथ दिशा बोधक भी है।

मेधासंपन्न मुनि धर्मरुचिजी ने अत्यधिक श्रमपूर्वक प्रवचनों को व्यवस्थित रूप में संपादित किया है। मुनिश्री की श्रमशीलता के प्रति श्रद्धाभार व्यक्त है।

आशा है, यह प्रकाशन पाठकों के लिए अत्यधिक रुचिकर एवं शिक्षा-प्रद सिद्ध होगा।

जैन विश्वभारती, लाडनूं
२६ दिसंबर १९९१

श्रीचंद बैंगानी
मंत्री
जैन विश्वभारती

संस्करण : १९९२

जागो! निद्रा त्यागो!! का प्रथम संस्करण दिसम्बर, १९९१ में प्रकाशित हुआ था। कुछ महीनों में ही वह संस्करण समाप्त हो गया। आचार्यप्रवर के प्रवचनों के प्रति जनार्कषण का यह पुष्ट प्रमाण है। पाठकों की मांग पर साल भर से कम की अवधि में ही इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। इस संस्करण में अपेक्षित संशोधन के साथ-साथ शब्दानुक्रम-विषयानुक्रम, नामानुक्रम, पारिभाषिक शब्दकोश एवं प्रेरक वचन के रूप में चार परिशिष्ट जोड़ दिए गए हैं। इससे इस संस्करण की विशेष उपयोगिता हो गई है। आशा है, पाठकगण इसका स्वागत करेंगे।

इस संस्करण को परिवर्धित एवं परिष्कृत करने में कुशल संपादक मुनिश्री धर्मरुचिजी ने जो एकनिष्ठ श्रम किया है, उसके लिए श्रद्धाभार प्रस्तुत है।

सन् १९९२ के इस संस्करण के प्रकाशन में अर्थ-सहयोग कलकत्ता/शादुलपुर (राजगढ़) निवासी श्री केशरीचंदजी दूगड़ द्वारा किया गया है। इस सहयोग के लिए संस्था श्री दूगड़जी के प्रति आभार ज्ञापित करती है।

जैन विश्वभारती, लाडनू
२३ नवंबर, १९९२

झूमरमल बैंगानी
मंत्री

अनुक्रम

१. प्रमाद और उसकी विशुद्धि	१
२. परिवर्तन : सामयिक अपेक्षा	६
३. कुछ शास्त्रीय : कुछ सामयिक संबंध	१३
४. साधु-साधिव्यों के पारस्परिक	१६
५. संसार की मोक्ष	२५
६. दृष्टिकोण का सम्यक्त्व	३०
७. अहिंसा विवेक	४२
८. पाप से बचने का उपाय	४८
९. क्रिया : एक विवेचन (१)	५४
१०. क्रिया : एक विवेचन (२)	६४
११. क्रिया : एक विवेचन (३)	७१
१२. उपधि परिज्ञा	७५
१३. उपासना-कक्ष और संस्कार-निर्माण	८१
१४. कषाय-मुक्ति बिना शांति संभव नहीं	८८
१५. योग परिज्ञा	९९
१६. मरना भी एक कला है	१०३
१७. संघीय प्रवृत्ति का आधार	१०५
१८. व्यवहार का प्रयोग कब और कैसे?	१११
१९. जागो! निद्रा त्यागो!!	११७
२०. त्याग और भोग की सत्ता	१२२
२१. भिक्षाचारी : एक विवेक	१२८
२२. अमृत क्या है? जहर क्या है?	१३१
२३. गौण को मुख्य न मानें	१३९
२४. संदेह भी विदेह होते हैं	१४९
२५. साधना में अवरोध	१५४
२६. जीव दुर्लभबोधि क्यों होता है?	१६०
२७. अवर्णवाद करना अपराध है	१६६

२८. व्यक्ति-निर्माण और धर्म	१७४
२९. अर्हत्तों की स्तवना	१७९
३०. धर्म आत्मगत होता है	१८६
३१. आचार्य महान उपकारी होते हैं	१९६
३२. जैनों और वैदिकों के चार वर्ण	२०२
३३. प्रतिसंलीनता	२०७
३४. करणीय और अकरणीय का विवेक	२११
३५. दीपावली कैसे मनाएं?	२२०
३६. इंद्रिय-विजय ही वास्तविक विजय है	२२९
३७. विश्व के लिए आशास्वाद	२३४
३८. विघटन और समन्वय	२३८
३९. अणुव्रतों की भूमिका	२४८
४०. राष्ट्रीय समस्याएं और अणुव्रत	२५४
४१. धर्म की पहचान	२५९
४२. संयम की साधना	२६३
४३. अहिंसा विवेक	२७०
४४. आत्म-धर्म और लोक-धर्म	२७५
४५. जैन एकता क्यों? कैसे?	२७८
४६. आचार साध्य भी है और साधन भी	२८१
४७. ज्ञान और दर्शन	२८५
४८. चरित्र और योग विद्या	२९०
४९. तप और उसका आचार	२९५
५०. शक्ति का सदुपयोग हो	२९९
५१. आगम अनुसंधान : एक दृष्टि	३०२
५२. शिकायत बनाम आत्म-निरीक्षण	३०५
५३. कायोत्सर्ग : तनाव-विसर्जन की प्रक्रिया	३०७
५४. ब्रह्मचर्य की महत्ता	३१३
५५. संघ में आचार्य का स्थान	३०२
५६. निश्चय-व्यवहार की समन्विति	३०५
५७. समस्याओं का समाधानहचेतना जाग्रति	३०७
५८. आचार्यों के अतिशेष	३१३

परिशिष्ट

१. शब्दानुक्रम	३१७
२. नामनुक्रम	

३. पद्यानुक्रम
४. कथाओं/घटनाओं/दृष्टांतों की सांकेतिका
५. पारिभाषिक शब्दकोश
६. प्रेरक वचन

तुलसी वाङ्मय
प्रवचन पाथेय

१२

तुलसी वाङ्मय

जागो !
निद्रा
त्यागो !!

जागो ! निद्रा त्यागो !!

आचार्य
तुलसी

आचार्य तुलसी

तुलसी वाङ्मय

आचार्य श्री तुलसी बीसवीं सदी के एक विशिष्ट पुरुष थे। उनका कर्तृत्व बहुमुखी था। अणुव्रत-आंदोलन के माध्यम से उन्होंने एक सफल धर्मक्रांति की, नैतिक एवं मानवीय मूल्यों की पुनःप्रतिष्ठा के लिए भगीरथ प्रयत्न किया। पदयात्राओं के द्वारा जन-जागरण का सघन अभियान चलाया। शिक्षा के क्षेत्र में जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) उनका महान अवदान है।

भारतीय वाङ्मय को भी उन्होंने बहुत समृद्ध बनाया। विभिन्न विधाओं में उन्होंने अनेक भाषाओं में साहित्य सरजा। जीवन के दूसरे दशक में प्रारंभ हुई उनकी साहित्य-साधना नवें दशक में प्रवेश कर जीवन के अंतिम समय तक चलती रही। उनका लेखन तो साहित्य बना ही, वाग्धारा भी साहित्य बनी। उनका तथा उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व को उजागर करनेवाला साहित्य तुलसी वाङ्मय के रूप में संपादित हो रहा है। थोड़े विस्तार में तुलसी वाङ्मय का वर्गीकृत रूप इस प्रकार है।

● आत्मकथा साहित्य ● प्रवचन साहित्य ● यात्रा साहित्य
● कथा साहित्य ● जीवनवृत्त साहित्य ● निबंध साहित्य ● संदेश साहित्य ● संस्मरण साहित्य ● संवाद साहित्य ● विचार साहित्य
● संस्कृत साहित्य ● आख्यान साहित्य ● काव्य साहित्य ● पद्य साहित्य ● गीत साहित्य ● आदि आदि।

उनके साहित्य में कुछ ऐसा वैशिष्ट्य है कि आज भी उसमें वह ताजगी महसूस होती है, जो उसके रचना-क्षणों में थी।

१ : प्रमाद और उसकी विशुद्धि

साधना की शुरुआत और सिद्धि में एक बड़ा अंतराल रहता है। उस अंतराल को पाटने में परिस्थिति और काल का पूरा-पूरा हाथ रहता है। साधना के प्रारंभ में कोई भी साधक सिद्ध नहीं हो जाता। साधना-काल में बार-बार स्खलना होने की संभावना रहती है। उस संभावना को टालने के लिए साधक को अनेक प्रकार के प्रयोग करवाए जाते हैं। ब्रह्मचर्य साधना का एक महत्वपूर्ण अंग है। उसकी सुरक्षा के लिए नौ बाड़ों की व्यवस्था की गई है। जो साधक इन बाड़ों को खंडित नहीं करता, उसका ब्रह्मचर्य भी अखंड रहता है।

साधना और पथ-दर्शन

चूंकि साधना के प्रारंभ में साधक को अनुभवी और शास्त्रज्ञ साधकों के मार्ग-दर्शन की अपेक्षा रहती है, इसलिए वह अकेला नहीं रह सकता। अकेला साधक प्रमाद करे तो उसे प्रतिबोध कौन दे? आचार्य, उपाध्याय और स्थविरों के सान्निध्य में रहने का यही उद्देश्य होता है। जब तक साधक शास्त्रों का ज्ञाता नहीं होता, तब तक उसको हर काम में पथ-दर्शन की जरूरत रहती है। कैसे चलना, कैसे बोलना, कैसे बैठना, कैसे खाना, भिक्षा के लिए कहां जाना, भिक्षा कैसे करना, कैसे स्थान में रहना आदि सब की विधियां शास्त्रों में वर्णित हैं। उनके अनुसार चलने से सहज ही प्रमाद से बचाव हो जाता है।

प्रमाद और परिमार्जन

लेकिन हजार सावधानियों के बावजूद छद्मस्थ साधक से प्रमाद होने की संभावना बनी रहती है। जाने-अनजाने, जब-तब उससे प्रमाद हो सकता है। पर इस स्थिति को देखकर प्रमत्त साधक को निराश/हताश होने की किंचित भी अपेक्षा नहीं है। क्यों? यह इसलिए कि प्रमाद की जितनी संभावना रहती है, उसके संशोधन का भी उतना ही अवकाश रहता है। परिमार्जन और संशोधन की समुचित प्रक्रिया काम में लेकर वह

से विह्वल होकर व्यक्ति अकरणीय काम करने के लिए प्रवृत्त होता है। हस्तकर्म अप्राकृतिक है, अकरणीय है। इसे करनेवाला व्यक्ति स्वास्थ्य और आत्मा दोनों का अहित करता है। जो युवक-युवतियां अविवेक और कुसंग से ऐसे जघन्य कार्य में फंस जाती हैं, उन्हें बाद में जीवन-भर अनुताप करना पड़ता है।

अभिभावक, गुरु, शिक्षक और मित्रों का काम है कि वे अपने संपर्क में रहनेवालों को समुचित प्रशिक्षण देते रहें। इसके अभाव में व्यक्ति के गलत मार्ग पर जाने की काफी संभावना रहती है। ज्यादा सिनेमा देखना, अश्लील साहित्य पढ़ना, गलत व्यक्तियों से संपर्क रखना आदि से बहुत भी बड़ी खराबी हो जाती है। शास्त्रों में कहा गया है कि कोई साधक हस्तकर्म करे तो वह कड़े प्रायश्चित्त का भागी होता है। एक बार की गलती के लिए उत्कृष्टतः तीस उपवास का प्रायश्चित्त दिया जा सकता है। उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त कहा जाता है।

मैथुन-सेवन

मैथुन अर्थात् अब्रह्मचर्य। साधक के लिए अब्रह्मचर्य का सेवन सर्वथा निषिद्ध है। ऐसा प्रमादाचरण करनेवाले साधक के लिए भी गुरु मासिक प्रायश्चित्त का विधान है।

रात्रि-भोजन

अध्यात्म-साधना रात्रि में न खाने पर बल देती है। इसलिए साधक रात्रि न भुञ्जीत का व्रत लेकर चलता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार रात्रि-भोजन राक्षसों का भोजन है। स्वास्थ्य-विज्ञान की दृष्टि से भी रात्रि-भोजन को अच्छा नहीं माना जाता। रात्रि में सूर्य की किरणों के अभाव में भोजन की पाचन-क्रिया ठीक नहीं होती। जैन-मुनि के लिए तो यह सर्वथा निषिद्ध है ही, पर जो गृहस्थ भी अच्छे श्रावक बनना चाहते हैं, उनके लिए भी यह वर्जित है।

रात्रि-भोजन न हो तो दिनचर्या भी ठीक रहती है। रात्रि-भोजन न करनेवाले को समय पर दुकान बंद करनी होगी। भोजन से निवृत्त होकर वह सायंकालीन धार्मिक क्रिया भी कर सकता है। समय पर सो सकता है। समय पर सोनेवाले को प्रातःकाल जल्दी उठने में कठिनाई नहीं होती। प्रातःकाल जल्दी उठकर वह सामायिक, आसन तथा घूमने के लिए समय निकाल सकता है। जो गृहस्थ पूर्णतः रात्रि-भोजन का परित्याग न कर सकें, वे कम-से-कम सीमित अवधि के लिए तो इसकी

२ : परिवर्तन : सामयिक अपेक्षा

विधान शाश्वत भी होते हैं और सामयिक भी। शाश्वत विधान कभी बदलते नहीं, पर सामयिक विधान देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। भगवान महावीर के बाद ढाई हजार वर्षों की परंपरा में सामयिक मूल्यों में अनेक परिवर्तन हुए हैं और हो रहे हैं। धर्म को राज्याश्रय मिलना चाहिए या नहीं-हयह वर्तमान युग का एक ज्वलंत प्रश्न है। प्राचीन समय में राजा होते थे। राज्य की समूची व्यवस्था उन्हीं पर निर्भर रहती थी। परंतु कालक्रम से इस व्यवस्था में परिवर्तन आता रहा। भारत की वर्तमान शासन-प्रणाली में राजाओं की सत्ता समाप्त हो चुकी है, उनकी परंपरा की इति हो चुकी है। उनके स्थान पर अब राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री प्रतिष्ठित हो गए हैं।

अणुव्रत-आंदोलन के उद्भव-काल में ही भारत के तात्कालिक राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्रप्रसाद उसके समर्थक हो गए। उनके समर्थन से हमें बल मिला। हमने अणुव्रत के कार्यक्रम को व्यापक बनाने का प्रयत्न किया। हालांकि इस कारण लोगों में अनेक प्रकार की चर्चाएं हुईं। पर हम सुनते रहे और काम करते रहे। कालांतर में जब परिणाम सामने आया, तब आलोचनाएं स्वयं समाप्त हो गईं। पर राजनेताओं के साथ हमारे संपर्क के कारण अब भी चर्चा होती रहती है। हालांकि इससे हमारे मन में कभी कोई विकल्प उपस्थित नहीं होता है, क्योंकि शास्त्रों में राजसंपर्क का निषेध नहीं है।

राज्याधिकारियों से संपर्क करने की स्थिति में साधुओं को राज-प्रासाद में भी जाना होता है। विशेष स्थिति में राजाओं के अंतःपुर में भी जाने का प्रसंग आ जाता है। *स्थानांग* सूत्र में बताया गया है कि पांच कारणों से राजा के अंतःपुर में प्रविष्ट होनेवाला साधु आज्ञा (तीर्थंकर की आज्ञा) का अतिक्रमण नहीं करताह

१. यदि नगर चारों ओर परकोटे से घिरा हुआ हो और उसके द्वारा

परिवर्तन : सामयिक अपेक्षा

स्थिति में भिक्षा करने, व्याख्यान देने या दर्शन देने के लिए राजप्रासाद में जाने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता।

आज के संदर्भ में शास्त्र पढ़े जाएं तो ये बातें समझ में आने-जैसी नहीं लगतीं। किंतु वातावरण, परिस्थिति और इतिहास को ध्यान में रखा जाए तो हम तथ्य समझ सकते हैं।

आज ये पांच कारण भले न हों, पर कर्पूरू लगने-जैसे दूसरे-दूसरे कारण उपस्थित हो जाएं तो अपनी कठिनाई का समाधान पाने, देश में चरित्र-बल बढ़ाने एवं धर्म-प्रसार करने के लिए शासकों से संपर्क किया जा सकता है। मैं जब प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू से मिला, तब मैंने उनसे कहा थाह्व'आपके शासन में युग के लिए सर्वाधिक अपेक्षित तत्त्वह्वनैतिकता के संबंध में कार्य होना चाहिए। यदि इस विषय में कुछ नहीं होता है तो बड़ी कमी रहती है।'

यह बात पंडितजी को समझ में आ गई। उन्होंने देश में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए के सुझाव को कार्य रूप देने सरकारी स्तर पर श्री गुलजारीलाल नंदा को हमारे पास भेजा। उन्होंने अणुव्रत के काम में अच्छा रस लिया।

उपर्युक्त घटना-चक्र को ध्यान में रखते हुए यह स्वीकार किया जा सकता है कि सामयिक अपेक्षा और उपयोगिता के अनुसार सही दृष्टि से सामयिक विधानों में परिवर्तन किया जा सकता है।

नई दिल्ली

१८ सितंबर १९६५

स्त्री के गर्भाधान हो सकता है।

३. किसी स्त्री का पति नपुंसक है और वह पुत्र-प्राप्ति की तीव्र कामना रखती है। साथ ही वह अपने शील को भंग करना भी नहीं चाहती। इस स्थिति में यदि वह स्वयं ही शुक्र-पुद्गलों को एकत्र कर अपने योनि-देश में प्रविष्ट करवाती है, तो उसके गर्भाधान हो सकता है।
४. किसी स्त्री का पति नपुंसक है और वह मां बनने के लिए उत्कंठित है। इस स्थिति में यदि वह अपने श्वसुर आदि ज्ञातिजनों से शुक्र-पुद्गलों को योनि-देश में प्रविष्ट करवाती है तो उसके गर्भ ठहर सकता है।
५. नदी, तालाब आदि में स्नान करते समय यदि शुक्र-पुद्गलों से मिश्रित ठंडा या गर्म जल किसी स्त्री के योनि-देश में चला जाए तो उसके गर्भाधान हो सकता है।

भारतीय संस्कृति में स्त्री के लिए निर्वस्त्र रहना वर्जित है। जैनों की दिगंबर परंपरा भी स्त्री को वस्त्र छोड़ने का आदेश नहीं देती। हालांकि वह वस्त्र को मुक्ति में बाधक मानती है। किंतु हमारी ऐसी कोई मान्यता नहीं है। यद्यपि अभी हमें इस विषय पर चर्चा नहीं करनी है, फिर भी इतना निर्विवाद है कि स्त्री का वस्त्रविहीन रहना अनुचित है।

स्त्री के लिए कई प्रकार की साधनाएं भी निषिद्ध हैं। साधु अकेला जंगल में जाकर तपस्या कर सकता है, पर साध्वी नहीं कर सकती। इसी प्रकार कुछ अन्य तपस्याएं भी वह नहीं कर सकती। यही कारण है कि वह कई उपलब्धियों से वंचित रहती है।

गर्भाधान न होने के कारण

स्थानांग में पांच ऐसे कारण भी निर्दिष्ट हैं, जिनकी उपस्थिति में स्त्री पुरुष का सहवास करती हुई भी गर्भाधान नहीं करती। वे पांच कारण हैं—

१. अप्राप्तयौवनाह्वपूर्ण युवती न होने से।
२. अतिक्रांतयौवनाह्वयौवन अवस्था लांघ जाने से।
३. जातिबंध्याह्वजन्म से ही संतानोत्पत्ति की शक्ति से विपन्न होने से।
४. ग्लानस्पृष्टाह्वरोग से आक्रांत होने से।

लोहे की लकीर हो जाती है।

प्रसंग द्रौपदी का

द्रौपदी की घटना प्रसिद्ध है। अपने पांच पांडव-पतियों के साथ उसने वर्षों तक जंगल में प्रवास किया। एक दिन पांचों पांडव आगे निकल गए और वह घने जंगल में अकेली रह गई। अचानक वहां शेर आ गया। पर द्रौपदी घबड़ाई नहीं। उसने भागने की कोशिश नहीं की, बल्कि अपने आत्मबल का परिचय देती हुई वह वहीं ध्यानस्थ होकर बैठ गई। बैठने से पूर्व लकड़ी से अपने चारों ओर एक परिमंडलाकार रेखा खींचकर वह बोलीहूँ‘यदि मेरे पति धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने जीवन में सत्य की कार नहीं लोपी है तो शेर भी मेरी कारहूसीमारेखा नहीं लोप सकता।’ कहा जाता है कि शेर उस लकीर के पास तक आया, पर उसे लांघकर आगे नहीं बढ़ सका।

यह दुर्बलता क्यों ?

इस प्रसंग से जरा हटकर मैं तो यह भी कहना चाहता हूँ कि किसी भी परिस्थिति में घबराना व्यक्ति की पहली हार है। आज भारत के समक्ष युद्ध का संकट है। समाचार आ रहे हैं कि इस स्थिति से कुछ लोग घबरा गए हैं और वे गांव खाली कर रहे हैं। यह दुर्बलता है। एक तरफ हजारों-हजारों सैनिक मोर्चे पर जाते हैं, राष्ट्र के लिए कुर्बान होते हैं, फिर भी उनके चेहरों पर निराशा और घबराहट की कोई शिकन तक नहीं है, वहीं दूसरी ओर घर बैठे लोग भागने की तैयारी में हैं, यह दुर्बलता क्यों ?

जोधपुर से श्री जम्बरमलजी भंडारी ने लिखा हैहूँ‘मुझे लगता है कि लोगों में राष्ट्रीयता की भावना नहीं है। राष्ट्र पर भारी संकट आया है और लोग अपने प्राणों की सुरक्षा के लिए इधर-उधर दौड़ लगा रहे हैं। वे ऐसा क्यों नहीं सोचते कि हमारे राष्ट्र ने अपने सिद्धांतों की सुरक्षा के लिए जान-बूझकर इस संकट से गुजरना स्वीकार किया है, ऐसी स्थिति में खतरे की आशंका होगी तो सरकार स्वयं गांव खाली करने का आदेश दे देगी? यों गांव छोड़कर हम जाएंगे भी कहां? आकाश से जो बम गिरते हैं, वे जहां-कहीं भी गिर सकते हैं। उनसे हम कब तक बच सकेंगे?’

मौत के दो प्रकार

हम इस परिप्रेक्ष्य में सैद्धांतिक दृष्टि से सोचें तो मौत का भय

४ : साधु-साध्वियों के पारस्परिक संबंध

भगवान महावीर व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार की साधना के प्रयोक्ता थे। जहां समूह होता है, वहां व्यवस्था भी आवश्यक होती है। भगवान ने अपने चतुर्विध धर्मसंघ को समुचित व्यवस्था दी। श्रमण-संघ को सुदृढ़ बनाने के लिए उन्होंने अनेक प्रकार के विधान बनाए। साधु-साध्वियों के पारस्परिक संबंधों के बारे में भी उन्होंने अत्यंत मनोवैज्ञानिक निदेश दिए। उन निदेशों के पीछे साधना और व्यवहारद्वये दोनों लक्ष्य सामने रहे हैं। उन्होंने कहाह 'साधु-साध्वियां अलग-अलग स्थानों में रहें। यदि गांव का प्रवेश और निर्गम-द्वार एक ही हो तो दोनों एक गांव में न रहें। यदि द्वार एक से अधिक हों और वे गांव में रहें तो जिस दिशा में साधु उत्सर्ग के लिए जाएं, उस दिशा में साध्वियां न जाएं। इसी प्रकार जिस दिशा में साध्वियां उत्सर्ग के लिए जाएं, उस दिशा में साधु न जाएं।' आचार्यों ने इस व्यवस्था में और अधिक कड़ाई की। उन्होंने कहाह 'साधु-साध्वियां एक साथ रहें ही नहीं। कहीं ऐसा प्रसंग उपस्थित हो जाए तो वे एक गांव में एक रात से अधिक न रहें। यदि कारण से रहें, तो गोचरी के घरों का भी विभाजन कर लें। साध्वियां साधुओं के स्थान पर जाएं नहीं, बैठें नहीं और अनपेक्षित बात न करें। जो साधु-साध्वियां आचार्य के सान्निध्य में रहें, वे भी आपस में बात न करें। यदि आवश्यकतावश बात करें तो आचार्य को अवगत करा दें।'

दूसरे विधान के अनुसार साधु-साध्वियों को सांभोजिक माना गया है। उनका आपस में बारह प्रकार से संबंध है। वे आवश्यकतावश उपकरण, पात्र और आहार-पानी का आदान-प्रदान कर सकते हैं। एक समवसरण में बैठकर व्याख्यान सुनना, वंदना करना, सेवा करना आदि काम कर सकते हैं, क्योंकि वे परस्पर संबद्ध हैं। विशेष स्थिति में उन्हें किसी सहयोग की अपेक्षा हो तो वे अपना काम गृहस्थों से न कराएं,

कासीद (धर्मानुरागियों को साधु-साध्वियों के आने की सूचना देनेवाला) न हो तो साधु कासीद का वेश बनाकर साध्वियों को सुरक्षित स्थान तक पहुंचा कर आए।

प्राचीन काल में गृहस्थों के निश्चित विहार किया जाता था। यह बात स्थितिसापेक्ष है। इससे श्रावकों पर थोड़ी जिम्मेदारी रहती है। यद्यपि साधु-साध्वियां स्वावलंबी जीवन जीती हैं, पर श्रावक भी अपना कर्तव्य समझते हैं। अतः आवश्यकता होने पर वे अपनी सेवा देने के लिए तत्पर रहते हैं।

मर्यादा और देश-काल का विवेक

साधु-साध्वियों को एक साथ रहना ही नहीं, ऐसा ऐकांतिक आग्रह आगमों में नहीं है। देश-काल-परिस्थिति की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता के आधार पर आचार्य चिंतन करते हैं और निर्णय करते हैं। एक गांव में रहने मात्र से उसके मानस विकृत हो जाएंगे, ऐसी रूढ़ धारणा हमें नहीं पालनी चाहिए। जहां साधुता जीवनगत हो जाती है, वहां विकार उत्पन्न होने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। हां, जहां मन दुर्बल है, वहां आचार्य भी ऐसी अनुज्ञा नहीं देते, जिससे पतन का रास्ता खुलता हो। आवश्यकता उपस्थित होने पर देश-काल के अनुसार वे चिंतनपूर्वक विशेष निर्देश देते हैं। उससे भगवान की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं होता।

नई दिल्ली

२० सितंबर १९६५

का सजातीय तत्त्व/स्वभाव हैहसंवर। विजातीय तत्त्व/परभाव हैहआश्रव। मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय आदि दुर्गुणों से विवश व्यक्ति परभाव में स्वभाव देखता है। यह परभाव का व्यूह न केवल मोक्ष-प्राप्ति में बाधक है, अपितु स्वास्थ्य की दृष्टि से भी बाधक है, घातक है। चिकित्सा-विज्ञान के अनुसार उच्च रक्तचाप (हाई ब्लडप्रेशर) के रोगी को नमक से जितना परहेज करना चाहिए, उससे भी कहीं अधिक परहेज करना चाहिए क्रोध से। दवा लेने पर भी मानसिक संतुलन के अभाव में स्वास्थ्य-लाभ नहीं हो सकता।

वाचिक क्रोध तो बुरा है ही, पर इससे भी अधिक बुरे हैं आत्म-प्रदेशों में व्याप्त क्रोध के अणु। राजनीतिक दृष्टि से सीधी लड़ाई की अपेक्षा शीत युद्ध को अधिक भयंकर माना जाता है। रात-दिन के कलुषित विचारों से खाने और सोने के समय भी शांति नहीं मिलती। यह परभाव का परिणाम है।

आनंद : कहां ? कैसे ?

योगियों के संबंध में कहा गया हैहहनन्दन्ति योगीश्वराःहयोगी बहुत प्रसन्न रहते हैं। इसका कारण यह है कि यह उनके जीवन में आनंद के बाधक तत्त्व नहीं होते। अहंभाव, गुस्सा, दंभचर्या, लालसा आदि उन्हें नहीं सताते। आत्मा सच्चिदानंदमय होती है। उस पर आवरण आने से शांति का भंग होता है। आनंद बाह्य पदार्थों में नहीं होता। उसके लिए कुछ पाना भी नहीं है। आत्मरमण ही आनंद है और यही आत्मा का स्वभाव है।

आनंद के लिए कुछ पाने की कोशिश करने से तनाव बढ़ता है। इसलिए कुछ पाने की चाह छोड़कर आनंद की सुरक्षा के लिए आत्मा में जम बैठे हुए घुसपैठियों को बाहर निकालने की जरूरत है। क्रोध, अभिमान, माया, लोभ, भय, जुगुप्सा आदि हमारे आत्मीय नहीं हैं। आत्मा के मैदान में इन शैतानों ने घुसपैठ कर रखी है। इनको चेतावनी देकर आत्मा के मैदान से बाहर निकाला जाए। इन विजातीय तत्त्वों की घुसपैठ मिट जाने के बाद आनंद स्वयं व्यक्त हो जाएगा।

दुःख का कारण

दुःख क्यों होता है, यह एक अहम प्रश्न है। पर में अपनापन दुःख का प्रमुख कारण है। व्यक्ति जिस वस्तु या व्यक्ति को अपना मानता है, वह वस्तु जब चली जाती है अथवा जब उस व्यक्ति की मृत्यु हो जाती

एवं सहज भाव से उसने कहाह 'जैसी तुम्हारी इच्छा।'

प्रातः फकीर ने देखा कि कुटिया में एक नया पैसा भी नहीं बचा है। इसके बावजूद उसे दुःख नहीं हुआ, क्योंकि लक्ष्मी आई और गईहइन दोनों ही स्थितियों में वह संतुलित था।

स्वभाव-रमण ही आनंद है

हम भी जिसके साथ रहते हैं, उसका आना और जाना अच्छी तरह से जानते हैं। दुःख होता है असावधानी से। मनुष्य जिसके साथ संबंध जोड़ता है, उसे आत्मीय मानने लग जाता है। यही दुःख का मूलभूत कारण है। वास्तव में मनुष्य का अपना कोई है भी नहीं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र के सिवाय दूसरा कोई आत्मीय होता ही नहीं। फिर भी धोखे में आकर व्यक्ति पर में स्व की बुद्धि करता है और दुःखी होता है।

जो विजातीय तत्त्वों में रमण करता है, वह मोक्ष का अधिकारी नहीं है। वास्तव में आनंद का एकमात्र उपाय हैहस्वभाव-रमण। जो व्यक्ति स्वभाव में रमण करता है, उसके लिए संसार ही मोक्ष है। बाह्य तत्त्वों से अपना संबंध-विच्छेद कर आत्मोन्मुख होना, प्रवृत्ति का निरोध करना संवर है और यही मोक्ष है। आत्म-व्यतिरिक्त तत्त्वों से संबंध जोड़ना, प्रवृत्तियों में उलझना आश्रव है और यही संसार है।

नई दिल्ली

२१ सितंबर १९६५

रहता है। यह जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है। जब तक व्यक्ति इस अभिशाप से मुक्त नहीं होता, तब तक उसके विकास का मार्ग प्रशस्त नहीं होता। इसलिए मिथ्यात्व को सबसे बड़ा पाप कहा गया है। सम्यक दृष्टिकोणवाला व्यक्ति धार्मिक क्रिया न करता हुआ भी उतने पाप कर्म का बंधन नहीं करता, जितना मिथ्या दृष्टिकोणवाला मिथ्यात्व के कारण कर लेता है।

मिथ्यात्व : सब पापों का मूल

गहराई से देखा जाए तो मिथ्या दृष्टिकोण सब पापों का मूल है। इस एक पाप की परिधि में व्यक्ति न जाने कितने-कितने पाप करता है। और यह बिलकुल स्वाभाविक ही है। जब मूल ही जहरीला है तो फल मधुर कहां से आएंगे ?

दक्षिण भारत का एक संन्यासी उत्तर भारत में आया। घूमता-घूमता वह राजस्थान के रेगिस्तानी इलाके में पहुंच गया। उसे कड़ाके की भूख लगी। वह जंगल में फलों की खोज करने लगा। पर रेगिस्तान में फलवान वृक्ष कहां मिलने को थे ? आखिर खोजते-खोजते उसकी नजर एक लता पर लगे फल पर गई। वह तुंबा था। चूंकि संन्यासी उस फल से अपरिचित था, इसलिए उसके गुण-दोष और स्वाद से भी अनभिज्ञ था। उसने तुंबे को काटकर उसका एक छोटा-सा टुकड़ा जीभ पर रखा और उसका सारा मुंह कड़वाहट से भर गया। उसने उसकी पत्ती चखी। वह भी कड़वी थी। उसने फूल चखा। वह भी कड़वा। लता को काटकर चखा। उसमें भी वही कड़वाहट। अब उसने बेल को उखाड़कर उसकी जड़ को चखा। वह तो हलाहल जहर ही थी। संन्यासी को तत्त्व समझ में आ गया कि जब मूल ही कड़वा है, तब फल मधुर कैसे होगा ? फल को रस तो मूल से ही मिलता है।

आप लोग भी इस तथ्य को समझें। दृष्टिकोण मूल है। जब तक व्यक्ति का दृष्टिकोण मिथ्या रहता है, उसका चिंतन सही नहीं होता, आचरण सम्यक नहीं बनता। इसलिए सबसे पहली अपेक्षा है कि व्यक्ति मिथ्या दृष्टिकोण का परित्याग करे।

सम्यक दृष्टिकोण का मूल्य

सम्यक दृष्टिकोण हमारे आत्म-विकास की मौलिक भित्ति है। दूसरे शब्दों में हमारी विकास-यात्रा यहीं से शुरू होती है। इस भूमिका में पहुंचे बिना अग्रिम विकास की कोई संभावना नहीं रहती। व्यक्ति ध्यान, दृष्टिकोण का सम्यक्त्व

सीमावर्ती गांवों के वासी घबरा गए। उन्होंने सोचाह अब तो मरण की शरण में जाना होगा। किंतु भारतीय सैनिकों ने उनकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखा। वे अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ते रहे। सैनिकों का यह व्यवहार देखकर गांव का एक वृद्ध उनके पास आकर बोलाह 'शाबास सैनिको! आपने तो हमको जीवनदान दे दिया।' सैनिकों ने यह बात सुनकर कहाह 'नागरिकों से हमारा क्या विरोध है? हमारी ओर से आप निश्चिंत रहें और अपना काम करें।' सैनिकों द्वारा प्राप्त इस आश्वासन से वृद्ध अभिभूत हो गया। वह बोलाह 'सैनिको! आप लोग जिस रास्ते से जा रहे हो, वह लंबा पड़ेगा। मैं आपको एक शॉर्टकट रास्ता बताता हूं। आप उससे जाइए।' यह प्रसंग चौंकानेवाला हो सकता है, पर भारतीय चरित्रनिष्ठा का एक जीवंत उदाहरण है। यदि प्रत्येक भारतीय चरित्र के क्षेत्र में इतना जागरूक हो जाए तो भारत की छवि बहुत उज्ज्वल हो सकती है।

वह भी कोई युद्ध है?

मैं जब सुनता हूं कि युद्ध में भी नैतिकता और चरित्र को महत्त्व दिया जाता है, तब मुझे बहुत प्रसन्नता होती है। युद्ध कोई नया हौआ नहीं है। युद्ध की परंपरा बहुत पुरानी है। उसमें भी संस्कृति और नीति का ध्यान रखा जाए, यह नितांत अपेक्षित है। मैं नहीं समझता, वह भी कोई युद्ध है, जिसमें अपना रोष नागरिकों, बाल-बच्चों, स्त्रियों और घायल सैनिकों पर निकाला जाता है! मेरी दृष्टि से वह युद्ध नहीं, नर-संहार है। और ऐसा नर-संहार न केवल कानून के खिलाफ है, बल्कि इंसानियत के भी खिलाफ है। कोई भी ऊंची संस्कृति इसे मान्य नहीं कर सकती।

...तब तक बड़ा अहित नहीं हो सकता

प्रतिशोध किसी से लेना हो और नुकसान किसी और का किया जाए, यह नीतिमत्ता नहीं है। व्यक्ति तक पहुंच न हो तो उसके पशुओं का मारना, यह कहां तक उचित है? ऐसा करना वस्तुतः कायरता का परिचायक है। परंतु यह सब अकारण नहीं होता। इसका कारण हैह दृष्टिकोण का मिथ्यात्व। जो व्यक्ति अपनी लक्ष्य-प्राप्ति में नीतिमान रहता है, आचार के प्रति सजग रहता है, वह बिना प्रयोजन कोई दुष्प्रवृत्ति नहीं कर सकता, अमानवीय कार्य नहीं कर सकता। भारतीय सैनिक और कमांडर जब तक अपनी चरित्र-निष्ठा को बनाए रखेंगे, उसकी टेक

सदा की भांति आज भी भोजन के पश्चात मैंने पान दिया। पान मुंह में रखने के आधे मिनट बाद ही उन्होंने मुझे यह आदेश दिया है।’

पनवाड़ी को रहस्य समझते देर नहीं लगी। चूना देते हुए उसने कहाह ‘अच्छा एक काम करना। तुम एक सेर घी पीकर बादशाह के पास जाना।’ एक सेर घी पीकर जाने की बात सुनकर वह ग्राहक एकदम चौंका। उसी भावधारा में उसने पूछाह ‘क्यों?’ पनवाड़ी ने कहाह ‘क्यों क्या, बादशाह तुम्हें यह सारा चूना खिलाएंगे। एक सेर चूना खाने का परिणाम क्या आएगा, यह तुम समझते ही हो। मर जाओगे बेमौत! यदि जीने से मोह है तो इतना ही घी पीकर जाना होगा।’

उस व्यक्ति ने एक सेर घी पिया और चूना लेकर बादशाह के समक्ष उपस्थित हुआ। बादशाह ने सीधा आदेश दियाह ‘यह सारा चूना खाओ।’

वह व्यक्ति बादशाह के सामने ही बैठ गया और सहज भाव से चूना खाने लगा। थोड़ी ही देर में उसने सारा चूना खा लिया। परंतु उस पर उसका कोई असर नहीं हुआ।

बादशाह को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह अभी तक मरा कैसे नहीं। मेरे पान में जरा-सा चूना अधिक था, उससे मेरी जीभ फट गई। पर यह देखते-देखते एक सेर चूना खा गया और इस पर तनिक भी असर नहीं। आखिर राज क्या है। बादशाह अब मौन नहीं रह सका। उसने पूछ ही लियाह ‘जरा-सा चूना पान में ज्यादा होने से मैं बेहाल हो गया, फिर तुम यह सारा चूना कैसे खा गए? तुम्हारे पर इसका असर क्यों नहीं हुआ?’

वह जरा मुस्कराता हुआ बोलाह ‘जहांपनाह ! मैं इतना ही घी पीकर आया हूं। फिर असर कैसे हो?’ बादशाह ने साश्चर्य पूछाह ‘क्यों?’ उसने उत्तर दियाह ‘मुझे पनवाड़ी ने कहा था।’ बादशाह अपने-आपमें समाहित होता हुआ-सा बोलाह ‘हां, यह बात है, तभी तुम बच गए। अन्यथा तो अभी तक.....’ बात समाप्त करने के अंदाज में बोलाह ‘अच्छा, तुम्हारा गुनाह माफ करता हूं। अब तुम एक काम करो। शीघ्र जाओ और उस पनवाड़ी को बुला लाओ।’

वह उन्हीं पैरों चलकर उस पनवाड़ी के पास पहुंचा और उसे लेकर दरबार में हाजिर हुआ।

बादशाह पनवाड़ी की बुद्धिमत्ता से इतना प्रभावित हुआ कि उसे अपना वजीर बना लिया। कहा जाता है कि वह बुद्धिमान पनवाड़ी और

देखा जाए तो कषाय ही इस संसार का मूल है। दूसरे शब्दों में जब तक कषाय है, तभी तक संसार है। कषाय-मुक्ति के पश्चात संसार मुक्ति तो सुनिश्चित है। उसके लिए फिर साधना की जरूरत नहीं रहती। साधना का सारा प्रयत्न कषाय-मुक्ति के लिए ही होता है।

जैसाकि मैंने कहा, कषाय सत्ता रूप में आत्मा में विद्यमान रहता है। व्यक्त रूप में वह कभी होता है और कभी नहीं भी होता। पर उसकी सत्ता जब तक अंतर में मौजूद है, वह निमित्त मिलने पर व्यक्त हो जाता है। बड़ी बात तब है, जब निमित्त मिलने पर भी वह उभरे नहीं। कवि ने कितना सुंदर कहा है—

विकार हेतौ सति विक्रियन्ते, येषां न चेतांसि त एव धीराः।

हम विकार/कषाय का निमित्त पाकर भी जिनका मन विकृत नहीं होता, कषाय उत्तेजित नहीं होता, वे ही धीर पुरुष हैं।

सचमुच यह बहुत गहरी बात है। तात्त्विक दृष्टि से कषाय की सत्ता दसवें गुणस्थान तक रहती है। पर जो साधक अपने मन को साध लेता है, वह कषाय की विद्यमानता में भी उसको अपने पर प्रभावी नहीं होने देता। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी वह शांत और आत्मस्थ बना रहता है, स्वभाव में रमण करता रहता है। मेरी दृष्टि में साधना की यह बहुत बड़ी सफलता है।

योग आश्रव

अंतिम आश्रव हैह्ययोग। इसका संबंध मन, वचन और काया की प्रवृत्ति से है। चूंकि प्रवृत्ति तेरहवें गुणस्थान तक चलती है, इसलिए योग आश्रव भी तेरहवें गुणस्थान तक रहता है। हालांकि वीतराग-अवस्था प्राप्त हो जाने के पश्चात प्राणी के पाप का बंधन सर्वथा रुक जाता है, मात्र पुण्य का सूक्ष्म बंधन होता है, तथापि बंधन तो आखिर बंधन ही है। मुक्ति में तो वह बाधक है ही। जिस दिन संपूर्ण योग आश्रव समाप्त हो जाता है, यानी व्यक्ति अयोग-अवस्था में पहुंच जाता है, तभी कर्म का अंतिम रूप से बंधन रुकता है।

पांचों ही आश्रव कर्म-बंधन के हेतु हैं। इन्हें रोकने से कर्म-निरोध होता है। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति आश्रव-निरोध यानी कर्म-निरोध की दिशा में प्रवृत्त रहता है। इस दिशा में बढ़नेवाले चरण ही अपनी चरम मंजिल पर पहुंच सकते हैं।

नई दिल्ली, २२ सितंबर १९६५

विहित नहीं है।

आगम-साहित्य में साधु के आहार करने के निम्नांकित छह कारण बताए गए हैं।

- वेदनाह्नभूख की पीड़ा को शांत करने के लिए भोजन किया जा सकता है।
- वैयावृत्यहसंघ के सदस्यों को सेवा की अपेक्षा है, आहार किए बिना सेवा होती नहीं। अतः वैयावृत्य के लिए आहार किया जा सकता है।
- ईर्या-शुद्धिह्नभोजन न करने से आंखों के आगे अंधेरा छा जाता है। फलतः ईर्यासमिति में सजगता नहीं रहती। अतः चलते समय ईर्या में जागरूक रखने के लिए भोजन किया जा सकता है।
- संयमह्नलंबे समय तक संयम-जीवन जीने के लिए आहार किया जा सकता है, क्योंकि आहार के बिना आवश्यक कार्यों में स्खलना हो जाती है।
- प्राणधारणह्नप्राण-धारण करने के लिए भी आहार करना विहित है।
- धर्मचिंताह्नचिंतन, स्वाध्याय, उपदेश आदि करने के लिए आहार किया जा सकता है।

साधु के लिए आहार करने के कारण निर्दिष्ट हैं। इसी प्रकार गृहस्थ के सामने हिंसा करने का भी सामान्यतः कुछ-न-कुछ प्रयोजन होता है। बिना किसी प्रयोजन या कारण जो हिंसा की जाती है, वह अनर्थ-दंड के अंतर्गत आती है।

अर्थ-दंड

अपने या दूसरों के उपकार के लिए त्रस, स्थावर जीवों की हिंसा करना अर्थ-दंड है। उपकार दो प्रकार का होता है। आध्यात्मिक और लौकिक। आध्यात्मिक उपकार में किसी प्रकार की हिंसा होती ही नहीं। किसी को जानी बनाना, श्रद्धालु बनाना आदि उपकार में हिंसा का प्रश्न ही नहीं है। लौकिक उपकार में हिंसा संभव है, क्योंकि वहां आत्मपक्ष गौण हो जाता है। यद्यपि दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति में हिंसा की संभावना रहती है, फिर भी लोकदृष्टि से चूंकि वह गर्हणीय नहीं मानी

सकता है। एक दंड से बचना भी कोई कम बात नहीं है। पर इसमें विवेक और जागरूकता की अपेक्षा रहती है। श्रावक के बारह व्रतों में पहला व्रत हैहिसंकल्पपूर्वक निरपराध त्रस प्राणियों की हिंसा नहीं करना। इस व्रत का पालन करनेवाला जिस सीमा तक हिंसा से बचता है, वह उसके आध्यात्मिक विकास का हेतु है। हिंसा से पूर्णतः विरत रहना किसी भी गृहस्थ के लिए संभव नहीं। अनर्थ हिंसा अथवा संकल्पजा हिंसा से विरत होकर अहिंसा की अग्रिम भूमिकाओं में आरोहण करनेवाला व्यक्ति एक सद्गृहस्थ के रूप में प्रतिष्ठा पाता है।

नई दिल्ली

२५ सितंबर १९६५

एक अभिमत के अनुसार सम्यक्त्व की प्राप्ति के पश्चात क्रिया का पाप लगता ही नहीं है। इस अभिमत को माननेवाले कहते हैं कि सम्यक्त्वी के भोग भी निर्जरा के हेतु हैं। मिथ्यात्वी के भोग कर्म-फल देते हैं।

मुझे यह चिंतन सही नहीं लगता। भोग किसी भी स्थिति में निर्जरा का कारण नहीं हो सकता। यहां सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी का कोई भेद नहीं है। हां, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भोग के समय भी जो अनासक्ति रहती है, चिंतन की पवित्रता होती है, उससे बंधन प्रगाढ़ नहीं होता। मिथ्यात्वी जितने चिकने परिणामों से कर्मबंधन करता है, उतने चिकने परिणामों से सम्यक्त्वी बंधन नहीं करता। यही कारण है कि उन दोनों के बंधन-बंधन में अंतर रहता है।

मिथ्यात्वी अथवा मिथ्यादृष्टि जब-तब चलते-चलते स्खलित हो जाता है, असत्य बोल लेता है, झूठा अभियोग लगा देता है, चोरी कर लेता है, अनर्थ हिंसा कर लेता है, क्रूर व्यवहार कर लेता है।..... पर सम्यक्त्वी अथवा सम्यग्दृष्टि जहां तक संभव हो पाता है, अपने को दुष्प्रवृत्तियों से बचाता है। उसके जीवन की धारा भिन्न होती है। वह हर तथ्य पर पहले गंभीरता से चिंतन करता है और उसके बाद आचरण का निर्णय करता है।

आवेश में निर्णय करना भूल है

पिछले ही दिनों संसद में एक प्रश्न आयाह 'क्या भारत को संयुक्त राष्ट्र-संघ से अपना संबंध-विच्छेद कर लेना चाहिए?' इस प्रश्न के उत्तर में केंद्रीय शिक्षामंत्री श्री छागला ने कहाह 'संयुक्त-राष्ट्र छोड़ना चाहिए या नहीं, यह एक गंभीर प्रश्न है। इस बिंदु पर आवेश में आकर कोई भी अंतिम निर्णय कर लेना भूल है। हमें इस बिंदु पर ठंडे दिमाग से सोचना चाहिए। मैं नहीं समझता कि संयुक्त राष्ट्रसंघ से संबंध-विच्छेद की बात हमें ही क्यों कही जाती है। ब्रिटेन को भी तो ऐसा करने के लिए बाध्य किया जा सकता है।'

सम्यक्त्वी व्यक्ति भी आवेश में आकर सहसा कोई काम नहीं कर सकता। हालांकि प्रमादवश या परिस्थितिवश वह दुष्प्रवृत्ति तो कर सकता है, तथापि जहां तक संभव होता है, वह बचाव का प्रयत्न ही करता है। जो सम्यक्त्वी व्यक्ति साधारण व्यक्ति की तरह आचरण करता है, जिसका विवेक जाग्रत नहीं है, वह कहलाने मात्र का सम्यक्त्वी तो भले

रहे हैं। अणुव्रत को पढ़-सुनकर लोगों को ऐसा अनुभव होता है कि यह तो हमारे ही धर्म की बात है। 'अणुव्रत' ने संसार को एक सार्वभौम/संप्रदायातीत धर्म दिया है तो वह एक निर्विवाद उपासना-स्थल भी दे सकता है। इसलिए मेरा निवेदन है कि आप इस विषय पर गंभीरता से सोचें। आप जो भी चिंतन देंगे, वह सबको मान्य हो जाएगा।'

प्रो. गांगुलि के उपर्युक्त विचारों को सुनकर ऐसा प्रतीत होता है कि लोगों में साधुओं के प्रति आस्था और उनके चिंतन के प्रति विश्वास है, क्योंकि उनका चिंतन सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय होता है। वे किसी का अहित-चिंतन कर ही नहीं सकते। साधु-संतों का कर्तव्य है कि वे अपनी इस गरिमा को सुरक्षित रखें। तभी वे स्वयं को जन-आस्था और विश्वास के अनुरूप साबित कर सकते हैं।

वीतराग पाप नहीं करता

यह बात मैंने प्रसंगवश कही। अब हम मूल बात पर विमर्श करें। सम्यक्त्वी पाप नहीं करताहइसका सीधा-सा अर्थ है कि वीतराग पाप नहीं करता। हम इस तथ्य को गहराई से समझें। हालांकि सम्यक्त्व की प्राप्ति चौथे गुणस्थान में हो जाती है, तथापि वास्तविक सम्यक्त्व की प्राप्ति दसवें से आगे के गुणस्थानों में होती है। यह वीतरागता की स्थिति है। यह बात दिन के उजाले की तरह स्पष्ट है कि वीतराग की किसी भी क्रिया से पाप का बंधन नहीं होता। वस्तुतः इस स्थिति में पाप-बंधन का कोई कारण ही शेष नहीं रहता।

समयत्तदंसी न करेइ पावंहइस वाक्य में **सम्मत्तदंसी** शब्द की संस्कृत छाया **समत्वदर्शी** भी हो सकती है। यह छाया करने से उपर्युक्त अर्थ के साथ पूरी संगति बैठ जाती है। समत्वदर्शी वह होता है, जो वीतराग बन जाता है। और जो वीतराग बन जाता है, वह किसी भी स्थिति में दुष्प्रवृत्ति नहीं कर सकता। दुष्प्रवृत्ति से ही पाप का बंधन होता है।

आतंकदर्शन और पाप

दूसरा वाक्य है **आयंकदंसी न करेइ पावंह** आतंकदर्शी पाप नहीं करता। आतंक अर्थात् भय। जिस व्यक्ति को मृत्यु और नरक का भय दिखाई देता है, वह पापकर्म के बंधन से बचने का हर संभव प्रयत्न करेगा। जान-बूझकर दुःखों को मोल लेना कोई नहीं चाहता।

शहर के बाहर एक योगी रहता था। उसके बारे में यह बात प्रसिद्ध

पाप से बचने के उपाय—

• ३५ •

आग्रह करने लगा। योगी ने कहाह 'जानकर क्या करोगे, नहीं जानना ही ठीक है। तुम्हारे लिए अच्छी सूचना नहीं है।'

अब युवक की उत्सुकता अपने चरमोत्कर्ष पर थी। वह बोलाह 'बाबा! जो होना है, वह होगा। अब घबराने से क्या होगा! आप मुझे यथास्थिति से परिचित करवा दें।'

योगी ने खिन्नता प्रकट करते हुए-से कहाह 'कल तुम्हारी मौत होगी।'

यह बात सुनते ही युवक के तो मानो होश-ह्वाश ही गुम हो गए। उसका वहां से उठना मुश्किल हो गया। पर जैसे-तैसे हिम्मत कर वह घर पहुंचा और उलटे मुंह बिस्तर पर लेट गया। मृत्यु उसकी आंखों के सामने नाचने लगी।

पूरी रात युवक ने आंखों में काटी। पौ फटी। सूर्योदय हुआ। युवक योगी की कुटिया पर पहुंचा। उसे देखते ही योगी ने पूछाह 'भाई! आज उन्माद का क्या हाल रहा ?'

छूटते ही युवक बोलाह 'बाबा! आपने उन्माद की गोली के साथ-साथ एक मौत की गोली और दे दी थी। उसके सामने उन्माद निष्प्रभावी हो गया। मुझे तो कल से एक मौत-ही-मौत दिखाई दे रही है। उन्माद आना तो बहुत दूर, उसका नाम तक भी मैं भूल गया।'

योगी ठहका लगाकर हंसा और फिर प्रश्नायित हुआह 'तुम्हें अपने प्रश्न का उत्तर मिला या नहीं?' युवक ने जरा चौंकते हुए कहाह 'कौन-सा-प्रश्न?' योगी बोलाह 'वाह! इतनी जल्दी भूल गए! दो दिन पहले ही तो तुमने पूछा था कि आपको विकार नहीं सताते, यह कैसे संभव है। अब तो तुम्हारा समाधान हो गया होगा। तुम्हें एक रात मौत का भय लगा तो सारे विकार विलीन हो गए। उनके नाम तक याद नहीं आए। फिर मुझे तो क्षण-क्षण में मौत दिखलाई देती है। तब भला मुझे विकार कैसे सताएंगे?'

युवक समाहित हो गया। योगी के चरणों में श्रद्धा-प्रणत हो गया।

.....तो क्या मुझे भी मरना पड़ेगा ?

मृत्यु की सचाई को समझकर गौतम बुद्ध को अपने सांसारिक जीवन से वैराग्य हो गया। कहा जाता है कि एक बार वे रथ में बैठकर नगर-भ्रमण कर रहे थे। तभी सामने से एक अर्थी आई। गौतम बुद्ध

पाप से बचने के उपाय ————— ● ३७ ●

जितनी एक साधारण मनुष्य के लिए होती है। परंतु कैसा आश्चर्य है कि इस सचाई को जानकर भी वह लालसाओं से मुक्त नहीं होता, बल्कि उसकी लालसाएं बढ़ती ही जाती हैं। रावण जब अंतिम सांसें गिन रहा था, तब उससे कहा गयाह 'आप तो राजनीतिशास्त्र के महान पंडित हैं, कुछ शिक्षा दीजिए।' इस पर रावण ने क्या कहा, क्या आप जानते हैं? रावण ने कहाह 'मैं क्या कहूं, मेरे मन की मन में ही रह गई! मैं चाहता था कि समुद्र का पानी मीठा कर दूं। पर आप देख रहे हैं कि मैं अपनी इच्छा लेकर ही संसार से विदा हो रहा हूं।'

यह एक रावण की बात नहीं है, अपितु सारे संसार की स्थिति है। व्यक्ति अधूरी इच्छाओं को छोड़कर मर जाता है। संसार में ऐसे व्यक्ति विरल ही होते हैं, जिनकी कोई इच्छा नहीं होती। इच्छा का संबंध जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं तक सीमित रहे तो व्यक्ति उससे उबर भी सकता है, परंतु आकांक्षाओं के जाल में फंसनेवाला व्यक्ति औचित्य का अतिक्रमण करके भी अपने मन की छलनी को भरना चाहता है। ऐसा व्यक्ति पापकारी प्रवृत्ति से नहीं घबराता। पाप से वही बच सकता है, जिसकी जीवन-उर्वरा पर संतोष का विरवा उग जाता है।

नई दिल्ली

२६ सितंबर १९६५

अदत्तादान क्रिया है। व्यवहार में अदत्तादान की क्रिया को चोरी कहा जाता है। चोरी पाप है, सामाजिक अपराध है और प्रतिष्ठा पर धब्बा है। सब जानते हुए भी बहुत-से व्यक्ति इससे बच नहीं पाते। अपने लिए, परिवार के लिए और मुसीबत से छुटकारा पाने के लिए अदत्त का ग्रहण किया जाता है। दूसरे व्यक्ति की वस्तु को चोर-वृत्ति से लेना चोरी है, यह स्थूल बात है। सूक्ष्मता से देखा जाए तो व्यक्ति की अपनी वस्तु वर्तमान में दूसरों के पास हो, उसे बिना पूछे लेनेवाला भी चोरी का पाप करता है। अथवा दूसरे की वस्तु अपने पास है, बिना अनुमति उसको काम में लेने से भी अदत्तादान की क्रिया लगती है।

शास्त्रों में देव-अदत्त, गुरु-अदत्त, राज्य-अदत्त और गाथापति-अदत्त का उल्लेख मिलता है। जिस काम को करने में भगवान की आज्ञा नहीं है, वह काम करने से देव-अदत्त लगता है। आचार्य द्वारा निर्मित मर्यादा का लंघन करनेवाला गुरु-अदत्त का दोषी होता है। राज्यनिषिद्ध काम करने से राज्य-अदत्त और गृहपति की आज्ञा का उल्लंघन करने से गाथापति-अदत्त लगता है।

शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाए तो किसी प्राणी के प्राणों का अपहरण करना भी चोरी है। उदाहरणार्थहजो लोग कुएं का पानी पीते हैं, वे कुएं के मालिक की आज्ञा तो ले लेते हैं, परंतु पानी के जीवों की आज्ञा नहीं लेते। सच तो यह है कि वे जीव आज्ञा दे भी नहीं सकते। सचित्त जल का सर्वथा परित्याग करने से ही पानी के जीवों की चोरी से बचाव हो सकता है।

अध्यात्म-क्रिया

यह मानसिक क्रिया है। मन में किसी के प्रति दुर्भावना का होना भी पाप का कारण है। मानसिक लगाव और दुराव से जो क्रिया लगती है, वह है अध्यात्म-क्रिया।

मान-क्रिया

जाति, कुल, बल, ज्ञान, लाभ, ऐश्वर्य आदि के मद में मत्त होकर दूसरों की अवहेलना या निंदा करने से जो क्रिया लगती है, वह है मान-क्रिया। जो व्यक्ति जातिविशेष के आधार पर ऊंच-नीच की परिकल्पना करते हैं, उनको निरंतर मान-क्रिया लगती है। सिद्धांत रूप में आप इस यथार्थ को स्वीकार कर चले कि किसी जातिविशेष में पैदा होने मात्र से कोई हीन नहीं होता। संसार में ऐसा कोई भी कुल या वर्ग नहीं है,

मात्र पुण्य का बंधन होता है। वीतराग असत प्रवृत्ति नहीं करते, क्योंकि असत प्रवृत्ति के कारणहकषाय, प्रमाद और अशुभ योग का वहां सर्वथा अभाव है। लेकिन योगों की शुभ प्रवृत्ति से पुण्य का बंधन होता रहता है। पुण्य भी बंधन है, इसलिए त्याज्य है। देवताओं को सुखी माना जाता है। पर पुण्य के तीव्र उदय से उन्हें त्याग और तपस्या के लिए अवकाश ही नहीं मिलता। वे चाहने पर भी वह अनुष्ठान कर नहीं सकते। धार्मिक क्रियाओं से उनकी विस्मृति-सी हो जाती है। अतः यह निश्चित तथ्य है कि पुण्य भी उपादेय नहीं है। हम लोग भी व्याख्यान देते हैं, विहार करते हैं, स्वाध्याय करते हैं, लोगों को समझाते हैं। इस प्रकार की सभी क्रियाओं से पुण्य का बंधन होता है। हमारी यह पुण्य की क्रिया सांपरायिक है और वीतराग की ईर्यापथिक। उनके योगों की चंचलता से रूखे पुण्य आकृष्ट होते हैं। प्रथम समय में वे आत्मा के साथ चिपकते हैं। दूसरे समय में भोग में आते हैं और तीसरे समय में टूट जाते हैं। इस प्रकार नए सिरे से वीतराग के कर्मों का संचय नहीं होता। पूर्वसंचित कर्मों की स्थिति पूरी हो जाए, योगों का प्रकंपन रुक जाए, वीतराग कर्म से सर्वथा अकर्म की स्थिति में चले जाएं, उसके बाद बंधन का रास्ता बंद हो जाता है। अकर्म बनने की यह प्रक्रिया संसार की परंपरा को समाप्त कर व्यक्ति को अपने स्वरूप में अवस्थित बना देती है।

नई दिल्ली

२७ सितंबर १९६५

जाए तो यह क्रिया नहीं होती। पर जो परिग्रह बाकी रहा है, उसकी क्रिया तो लगती ही है। दूसरों की वस्तु पर भी जो आसक्ति होती है, वह भी परिग्रहजन्य क्रिया है।

यहां चिंतनीय यह है कि **अपचक्राणकिरिया** और **परिग्रहिया-किरिया** में क्या अंतर है। एक व्यक्ति को एक लाख की संपत्ति से अधिक रखने का परित्याग है। उसके पास अभी दस हजार रुपयों की संपत्ति है। इस स्थिति में उसे परिग्रह की क्रिया दस हजार की लगती है और अप्रत्याख्यान की क्रिया एक लाख कीहयह एक चिंतन है।

किसी को एक करोड़ से अधिक संपत्ति रखने का परित्याग है, पर उसका ममत्व इससे भी ज्यादा विस्तार में है। दूसरे चिंतन से वहां अप्रत्याख्यान की क्रिया एक करोड़ की लगेगी और परिग्रह की क्रिया उससे अधिक की होगी, क्योंकि ममत्व परिग्रह है। लेकिन यह तथ्य अभी तक निर्णीत नहीं है। यहां गहरे चिंतन की अपेक्षा है।

अपचक्राण

सम्यक्त्व आने से मिथ्यात्व आश्रव रुक जाता है, पर त्याग के पथ पर नहीं आने से अव्रत आश्रव चालू रहता है। अप्रत्याख्यानावरणीय कर्म के तीव्र उदय से परित्याग में बाधा आती है। एक व्यक्ति बुरा काम नहीं करता है, फिर भी उसे वैसा करने का त्याग नहीं है तो अप्रत्याख्यान की क्रिया लगती है।

हम सब जानते हैं कि जैन-धर्म त्यागप्रधान धर्म है। त्याग का अर्थ हैहबुराइयों से अपना संबंध तोड़ लेना। लेकिन यहां ज्ञातव्य यह है कि त्याग किसका और कैसे करना चाहिए, व्यक्ति बुरी आदत पड़ने के बाद त्याग करे या उसे पहले ही छोड़ दे।

एक अभिमत है कि जिस बुराई में व्यक्ति की विशेष प्रवृत्ति हो, उसका त्याग होना चाहिए। जैसेहएक मनुष्य दिन-रात शराब पीता है। अब वह उसे क्रमशः कम करने का प्रयत्न करे और अंत में बिलकुल छोड़ दे। लेकिन जो कभी शराब नहीं पीता, उसे भी त्याग करना चाहिए। यह दूसरी सुचिंतित विचारधारा है। वर्तमान का संवरण और भविष्य का प्रत्याख्यान दोनों यहां फलित होते हैं। एक व्यक्ति वर्तमान की दुष्प्रवृत्ति को रोकने के लिए त्याग करता है और दूसरा भावी आकांक्षा को मिटाने के लिए।

शब्दोच्चारणपूर्वक त्याग करना व्यवहार है। एक दृष्टि से यह क्रिया : एक विवेचन (२) ————— ●४५●

प्रत्याख्यान आंतरिक अनासक्ति का प्रतीक है। आसक्ति कम हुए बिना प्रत्याख्यान करना बहुत मुश्किल होता है। इसके बावजूद हर व्यक्ति को प्रत्याख्यान करने की आदत डालनी चाहिए। श्रावक प्रातःकाल चौदह नियमों का स्मरण करता है। इसमें खाने, पीने आदि की सब प्रवृत्तियों का नियमन हो जाता है। विवेक रखने से पापों से बचाव हो सकता है। आजकल यह प्रवृत्ति कम हो गई है। इस ओर फिर से सजग होने की अपेक्षा है।

मिच्छादंसणवत्तिया

संसार में दो प्रकार के प्राणी हैं हंसम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी। कई प्राणी ऐसे हैं, जो अनादि काल से मिथ्यात्वी हैं और अनंत काल तक मिथ्यात्वी ही बने रहेंगे। तीव्र दर्शनमोह के उदय से आत्मा में मिथ्यात्व की ग्रंथियां गहरी हो जाती हैं। कई प्राणी उनको सुलझाने का प्रयास नहीं करते और कई प्रयास करने पर भी सफल नहीं होते। यथाप्रवृत्तिकरण में प्रयास होता है, पर ग्रंथि-भेद नहीं हो पाता। मिथ्यात्व से छूटने पर ही आगे का मार्ग प्रशस्त होता है, क्योंकि मिथ्यात्व ही पाप का मूल है। मूल के नष्ट हो जाने के बाद पर पत्तों, फूलों और फलों को भी पोषण नहीं मिलता। **मिच्छादंसणवत्तिया** का संबंध आत्मा से है। आत्मा में जब तक मिथ्यात्व रहता है, तब तक प्रतिपल कर्मबंधन होता रहता है।

नई दिल्ली

२८ सितंबर १९६५

बताता है कि संसार के सभी जीव जीना चाहते हैं, मृत्यु की इच्छा कोई नहीं करता। जगत के प्रत्येक प्राणी के लिए सुख अनुकूल है और दुःख प्रतिकूल है।

अहिंसा का व्यापक सिद्धांत

हमारे जीवन में कोई बाधक बने, यह हमें काम्य नहीं है तो हम दूसरों के जीवन में बाधक क्यों बनें? यह सिद्धांत अहिंसा का उत्कृष्ट सिद्धांत है। परंतु इसके अनुसार कोई गृहत्यागी साधक ही जीवनयापन कर सकता है। परिवार, समाज और राष्ट्र के भरणपोषण एवं सुरक्षा के दायित्व से बंधा कोई भी गृहस्थ संपूर्ण अहिंसक नहीं बन सकता।

संपूर्ण रूप से अहिंसा-व्रत के पालन की संभावना न होने पर भी इतना संकल्प तो कोई भी विवेकशील गृहस्थ कर सकता है कि यह अपनी ओर से किसी को दुःख नहीं पहुंचाऊंगा। सामने कोई आक्रांता होगा तो मैं अपना बचाव तो करूंगा, पर सुरक्षात्मक उपाय को काम में लेने के अतिरिक्त अपनी ओर से किसी पर आक्रमण नहीं करूंगा।

एक सामाजिक व्यक्ति संकल्प कर सकता है 'जो मेरे जीवन में बाधक नहीं बनेगा, मैं भी उसके जीवन में बाधक नहीं बनूंगा, उसकी सुख-सुविधा में बाधक नहीं बनूंगा।' यह बहुत व्यापक सिद्धांत है।

कल की ही बात है। कविवर 'दिनकर' हमारे पास आए। उन्होंने कहा 'हमारा राष्ट्र अहिंसक माना जाता है, पर यह मान्यता की भ्रांति है। भारत न तो कभी अहिंसक था, न वर्तमान में है और न भविष्य में होगा, क्योंकि कोई भी राष्ट्र अहिंसक हो नहीं सकता। यह ठीक है कि भारत में अहिंसा की संस्कृति का प्रसार हुआ। इस राष्ट्र में कुछ व्यक्ति ऐसे भी हुए हैं, जिनकी अहिंसा में गहरी आस्था थी। इसलिए इसे अहिंसाप्रेमी राष्ट्र कहा जा सकता है। पर किसी भी राष्ट्र में अहिंसा को आधार कैसे माना जा सकता है?'

क्रिया के पांच प्रकार

मूलतः साधना व्यक्तिगत होती है। एक संघ में हजारों सदस्य मिलकर साधना करें तो वह संघगत हो जाती है, पर सर्वगत नहीं हो सकती। अतः हिंसा और अहिंसा की सीमा को भिन्न-भिन्न रूप में समझने के लिए *स्थानांग* में वर्णित अग्रोक्त पांच प्रकार की क्रियाओं को जानना अपेक्षित है १. कायिकी २. आधिकरणिकी ३. प्राद्वेषिकी ४. पारितापिकी ५. प्राणातिपातिकी।

मृत्यु को प्राप्त हुआ, इसकी उन्हें प्रसन्नता नहीं हुई। क्यों? यह इसलिए कि भगवान का शिष्यों के प्रति राग नहीं था और गोशालक के प्रति द्वेष नहीं था। भगवान की इस वीतरागता का चित्रण करते हुए आचार्य हेमचंद्र ने कहा है

कौशिके च सुरेन्द्रे च, पन्नगे पादसंस्पृश।

ईषद् वाष्पार्द्रयोर्भद्रं, श्रीवीरजिननेत्रयोः॥

आचार्य कह रहे हैं कि चंडकौशिक सर्प और देवेंद्र दोनों ने भगवान का चरण-स्पर्श किया। सर्प ने भगवान को काटने के लिए ऐसा किया और देवेंद्र ने नमस्कार करने के लिए। किंतु भगवान दोनों के प्रति सम चिंतन करते रहे। दोनों को ही देखकर भगवान के नेत्र करुणा से आर्द्र हो गए। चंडकौशिक को देखकर भगवान महावीर के मन में चिंतन उभराहयह कितना निर्दयी और क्रूर है! इसका कल्याण कैसे होगा! इंद्र के लिए चिंतन आयाहयह कितना विलासी और भोगी है! इसका कल्याण कैसे होगा!

मुनि के लिए एक विशेषण आता है **हैहवासीचंदनकप्पो**। मुनि के शरीर पर कोई व्यक्ति चंदन का लेप करे या कुल्हाड़ी से प्रहार करे, दोनों ही स्थितियों में उसकी मनःस्थिति संतुलित रहे। यह स्थिति कठिन अवश्य है, पर असंभव नहीं है। अभ्यास करने और आसक्ति टूटने से ऐसी स्थिति आ सकती है।

संसारी प्राणी राग को अच्छा समझता है, यह बहिर्दृष्टि है। निश्चय में राग और द्वेष दोनों एक ही सीमा में आते हैं। संसार-मुक्ति के लिए दोनों से समान रूप से मुक्ति आवश्यक है। दूसरे शब्दों में राग-द्वेष की परिसमाप्ति ही संसार की परिसमाप्ति है। हालांकि सब लोगों में इतनी शक्ति और सामर्थ्य नहीं होता कि वे इनसे सर्वथा मुक्त हो सकें।

संसारी प्राणी पूर्ण रूप से राग-द्वेष को नहीं छोड़ सकते, इसका मतलब यह भी नहीं है कि इन्हें छोड़ने का प्रयास ही न किया जाए। इनके स्वरूप को समझकर इनसे बचने का प्रयास होना चाहिए। सामने कोई शत्रु भी आ जाए तो भी उसके प्रति अत्यंत क्रूरता नहीं होनी चाहिए। इसी प्रकार मित्र के प्रति अत्यंत आसक्ति नहीं होनी चाहिए। हालांकि तटस्थ दृष्टि से काम करनेवाला व्यक्ति भी कर्मों का बंधन तो करता है, तथापि वह बहुत गहरा नहीं होता। अतः इस विषय में सजग होना जरूरी है।

नई दिल्ली, २९ सितंबर १९६५

क्रिया : एक विवेचन (३)

लेकिन पहले इसे आधार बनाकर संप्रदाय-भेद जैसी कोई स्थिति नहीं थी। धीरे-धीरे इस विषय में अपना-अपना आग्रह बढ़ा, विवाद बढ़ा और स्वतंत्र रूप से दो संप्रदाय खड़े हो गए। जिनकल्पी मुनि वस्त्र नहीं रखते थे। वे जंगल में रहते थे और कठोर तपस्या करते थे। वस्त्र रखनेवाले मुनि शहरों में रहते थे। उन्हें शिथिल माना जाने लगा। वस्तुतः वस्त्र रखने या न रखने से कोई शिथिल या अशिथिल नहीं होता। वस्त्र छोड़ने के बाद भी यदि कषाय तीव्र है, ममत्व प्रबल है, तो वस्त्र-त्याग से क्या लाभ हुआ?

दशवैकालिक सूत्र का एक पद्य है, जो मुनि की सवस्त्रता-निर्वस्त्रता के कल्प की सुंदर मीमांसा करता है।

**सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खणपरिग्गहे।
अवि अप्पणो वि दहम्मि, नायरंति ममाइयं ॥**

ह सबी काल और सभी क्षेत्रों में तीर्थंकर उपधिहण एक दिव्य वस्त्र के साथ प्रव्रजित होते हैं। प्रत्येकबुद्ध, जिनकल्पिक आदि भी संयम की रक्षा के लिए उपधि (रजोहरण, मुखवस्त्र आदि) ग्रहण करते हैं। वे उपधि पर तो क्या, अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं करते।

इस पद्य का अर्थ समझा जाना बहुत मुश्किल है। आगमों के व्याख्या-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में इसको समझा जा सकता है। तीर्थंकर जब दीक्षित होते हैं, तब वे अपने पास एक वस्त्र रखते हैं। भगवान महावीर ने भी एक देवदूष्य रखा था, क्योंकि उन्हें आगे जाकर सचेल एवं अचेल दोनों प्रकार के धर्म की व्याख्या करनी थी। वे स्वयं अचेल रहकर सचेल धर्म का उपदेश देते तो उसमें किसी को संशय भी हो सकता था।

अनेकांत-दृष्टि ही समाधान है

वस्त्र रखने का उद्देश्य एकमात्र संयम-सुरक्षा है। पर इस संदर्भ में यहां एक शंका उपस्थित होती है कि मुनि वस्त्र रखे यह उचित है, लेकिन वस्त्रों पर उसकी ममता हो जाएगी तो। इस शंका को समाहित करते हुए कहा गया है कि मुनि तो अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं करते, फिर वस्त्रों पर तो करेंगे ही कैसे। इस वाक्य से दूसरी ध्वनि यह भी निकलती है कि वस्त्र छोड़ तो दिए, लेकिन शरीर पर यदि ममता होगी तो वह भी तो परिग्रह ही है। इस स्थिति में वस्त्र छोड़ने का

को भी मैं इसके लिए प्रेरित करता रहता हूँ, क्योंकि आसन की प्रक्रिया आत्मशुद्धि के लिए भी उपयोगी है। कैसे? आसन कायक्लेश है। कायक्लेश निर्जरा है और निर्जरा का अर्थ है आत्मशुद्धि।

सामायिक और आसन

क्या गृहस्थ सामायिक में आसन कर सकते हैं, यह एक प्रश्न है। मुनि जब साधु-जीवन में भी आसन कर सकते हैं तो गृहस्थ के सामायिक में आसन करने में भी कोई बाधा नहीं है। लेकिन उनका लक्ष्य विशुद्ध आध्यात्मिक होना चाहिए। कुछ आसन अव्यावहारिक होते हैं। उन्हें करते समय विवेक रखना आवश्यक है। एक बात और हस्तस्वास्थ्य-लाभ आसन का प्रासंगिक और गौण फल है। ध्यान रहे, गौण को मुख्य बनाने की भूल न हो।

उपधि के विषय में भी हमारा यही चिंतन है। उसे छोड़ने या रखने का एकांत आग्रह नहीं होना चाहिए। पहले उपधि का स्वरूप समझें। उसके बाद उसे छोड़ते जाएं। कोई साधक भले उपधि रखे या न भी रखे, पर ममत्व-विसर्जन अवश्य करे, क्योंकि ममत्व-विसर्जन साधना का पहला अंग है।

नई दिल्ली

३० सितंबर १९६५

सकता है? और जहां समाज अपनी अपेक्षा से कोई स्थान बनाता है, वहां साधु-साध्वियां भी आवश्यकतानुसार रहें तो कोई दोष की बात नहीं है। प्राचीनकाल में सामूहिक उपाश्रयों में साधु-साध्वियों के रहने की आम पद्धति रही है। खैर, यह बात तो मैंने प्रासंगिक तौर पर कही। मूलभूत बात है सामूहिक उपासना-स्थल की उपयोगिता की। साधु-साध्वियों की उपस्थिति में तो उसका उपयोग होता ही है, उनकी अनुपस्थिति में भी उसका बहुत महत्वपूर्ण उपयोग है। समाज के लोग सामूहिक रूप में वहां ध्यान, स्वाध्याय, सामायिक आदि क्रियाएं सुचारु और व्यवस्थित रूप में कर सकते हैं। कहीं-कहीं यह क्रम शुरू भी हुआ है। इस क्रम को आगे-से-आगे बढ़ाना चाहिए।

पौषधशाला की पद्धति भी बहुत सुंदर और उपयोगी पद्धति थी। यह पद्धति अब लगभग समाप्त हो गई है। मैं देखता हूं, लोग मकान बनाते समय अपनी दूसरी-दूसरी आवश्यकताओं का पूरा-पूरा ख्याल रखते हैं, पर धर्मोपासना की बात को विस्मृत कर देते हैं। हालांकि धार्मिक उपासना का कोई स्थानविशेष के साथ अनुबंध नहीं होता। वह कहीं भी की जा सकती है। इसलिए उसके लिए कोई अतिरिक्त मकान बनाने की जरूरत नहीं है। पर धार्मिक उपासना के अनुकूल वातावरण की बात को तो समझना जरूरी है। इस दृष्टि से मकान में एक कक्ष का निर्धारण इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए हो, यह अपेक्षित है। उस कक्ष में ऐसा साहित्य हो, ऐसे चित्र टंगे हों, ऐसे वाक्य लिखें हों, जो धार्मिक उपासना के अनुकूल हों। इससे वातावरण निर्मित होता है। वातावरण बनने से घर के प्रत्येक सदस्य को वहां बैठकर उपासना करने की सहज प्रेरणा मिलती है।

प्रकाश की अपेक्षा है

गांव में साधु-साध्वियां हों या नहीं, धार्मिक अध्ययन का क्रम सदा चालू रहना चाहिए। प्राचीन समय में शिक्षा सीमित थी। अध्ययन-काल लंबा नहीं होता था। अतः दो-चार वर्ष अध्ययन करने के बाद बच्चे मुक्त-प्रायः बन जाते थे। ऐसी स्थिति में उन्हें साधु-साध्वियों से संपर्क साधने का पर्याप्त समय मिल जाता था। पर आज स्थिति कुछ और है। शिक्षा का क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण हो गया है और क्रमशः होता ही जा रहा है। शिक्षा के नए-नए क्षेत्र और आयाम उद्घाटित हो रहे हैं। यह कोई बुरी बात नहीं है, बल्कि शुभ ही है। पर इस कारण बच्चों का अनेक

१४ : कषाय-परिज्ञा

यह संसार अनादि-अनंत है। अनंत-अनंत प्राणी इसमें संसारे हैं। वे कर्मों की प्रेरणा से प्रवृत्ति करते हैं, नए कर्मों का संचयन और उनका फल भोगते हैं। यह क्रम तब तक चलता रहता है, आत्मा सब कर्मों से मुक्त होकर अपने स्वरूप में अवस्थित न मूलतः आत्मा शुद्ध है। उस पर कर्मों का आवरण जितना सघन वह उतनी ही अशुद्ध बन जाती है।

कषाय : आत्मा की अशुद्धि का हेतु

पांच परिज्ञाओं के विवेचन के क्रम में उपधि-परिज्ञा और परिज्ञा के बारे में आप सुन चुके हैं। आज हम तीसरी परिज्ञा परिज्ञा को समझें।

कषाय एक ऐसा तत्त्व है, जो आत्मा की अशुद्धि का प्रमुख हेतु है। कषाय जब तक आत्मा में रहता है, तब तक स्वाध्याय तपस्या आदि उपक्रम सफल नहीं होते। कषाय का रूप रागद्वेष इसे दूर किए बिना साधना केवल ऊपर का उपचार होती है। इसका मूल नष्ट नहीं होता।

कषाय अंतःशल्य है

संग्राम-भूमि में गए किसी घोड़े के शरीर में एक तीर लगी तीर को निकालकर उपचार कर दिया गया, फिर भी घोड़ा कृश गया। उसकी दिन-प्रतिदिन बढ़ती यह कृशता उसके अस्वास्थ्य का कारण कर रही थी। अनेक पशु-चिकित्सकों को बुलाया गया। हर चिकित्सा भी की गई। लेकिन उसके स्वास्थ्य में कोई सुधार न

घोड़ा मरणासन्न हो रहा था। उसके बचने की कोई आशा तभी एक दिन सहसा कोई अनुभवी वृद्ध वैद्य आया। उसने देखा। पर बीमारी उसकी समझ में नहीं आई। और रोग का नि

कषाय-परिज्ञा

द देने में उसका विश्वास नहीं था। उसकी मान्यता थी कि रोग न हूए बिना दवा देना अंधकार में पत्थर फेंकना है। अतः वह दिन तक बराबर निरीक्षण करता रहा और अंततः उसको लगा कि शरीर में कोई शल्य है। उसके कारण ही यह स्थिति बनी निकाले बिना यह स्वस्थ नहीं हो सकता।

ने घोड़े की सार-संभाल करनेवालों को बुलाया और पूछाह 'घोड़े पर कहीं कोई तीर लगा था क्या?'

में से एक ने कहाह 'यह संग्राम में तो गया था।' दूसरे ने तभी से बीमार है।' तीसरे ने कहाह 'उस समय तीर तो अवश्य पर उसे तो निकाल दिया गया था।'

में व्यक्तियों की बातों से चिकित्सक रोग का निदान करने में गया। घोड़े के जहां तीर लगा था, उस स्थान को खोजकर चिकित्सा की गई तो वहां तीर का अग्र भाग मिला। उसे मरहम-पट्टी करने पर पांच दिन में घोड़ा स्वस्थ हो गया।

कार के शल्य

ओ! यह अंतःशल्य की स्थिति है। जब तक अंतःशल्य रहता तक एक भी उपाय कारगर नहीं होता। कषाय भी एक अंतःशल्य शांति में बाधा है। आगमों में तीन प्रकार के शल्य बताए गए शल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य। मिथ्यादर्शनशल्य दृष्टि सिस से होता है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनका दृष्टिकोण नहीं होता, वे अपने लक्ष्य को भी समझ लेते हैं, फिर भी प्रति गूढ़ आसक्ति से छुटकारा नहीं पा सकते। उनका मन विकल्पों में उलझा रहता है। कोई विशेष भौतिक आकर्षण लेते ही वे अपनी तपस्या व साधना का सौदा कर लेते हैं। यह लक्ष्य है। इससे साधना विफल हो जाती है।

प्राशल्य का संबंध कषायचतुष्टयी से है। माया इस चतुष्टयी का है, पर इससे क्रोध, मान और लोभ का भी बोध हो जाता है। पर जब तक रहता है, व्यक्ति संतुलित और सजग नहीं हो क्षमा, मृदुता, ऋजुता और निर्लोभता की भावना से भावित व्यक्ति इस शल्य से मुक्त हो सकता है।

सी के प्रति किसी का तीव्र रोष है। पर उससे कभी सौहार्द

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

होगा ही नहीं, उसका यह मानना भूल है। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को सलक्ष्य दुरुस्त करे। सामनेवाला उसके साथ कैसे पेश आता है, उसकी बात को वह क्यों सोचे? अपना व्यवहार ठीक है तो उसका निश्चित रूप से अच्छा होगा।

स्वागतं ब्रह्मर्षि !

वशिष्ठ और विश्वामित्र दोनों ऋषि थे। वशिष्ठ ब्रह्मर्षि और विश्वामित्र राजर्षि। विश्वामित्र ब्रह्मर्षि बनना चाहते थे। उनकी और साधना को देखकर सब उन्हें ब्रह्मर्षि कहना चाहते थे। वशिष्ठ ने ऐसा कहने से इनकार कर दिया।

विश्वामित्र ने सोचा, वशिष्ठ मेरा विकास देखना नहीं चाहते। मेरी अवहेलना करते हैं और मेरे प्रति आग उगलते हैं। इनके मन में मेरे प्रति ईर्ष्या है। इनके रहते मेरा विकास नहीं हो सकता। इसीलिए मैं खत्म ही कर देना ठीक है। बस, रात्रि के समय हाथ में नंगी तलवार लेकर वे वशिष्ठ को मारने के लिए चल पड़े। चलते-चलते उनकी कुटिया के सन्निकट पहुंचे। कुटिया का दरवाजा बंद था। अंदर से बाहर आवाज आ रही थी। वे चुपचाप बाहर खड़े हो गए और वशिष्ठ को सुनने लगे।

वशिष्ठ की पत्नी अरुंधती ने पति से कहा 'आज चंद्रिका चंद्रिका कितनी सुंदर है! ऐसा प्रकाश और ऐसी निर्मलता कहां से आती भी है क्या?' वशिष्ठ ने उत्तर दिया 'ऐसा आलोक और इससे भी तेज आलोक विश्वामित्र की तपस्या में है।' विश्वामित्र ने यह बात सुनी तो उन्हें अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। पर अविश्वास का कारण नहीं था। बस, उनका मन बदल गया। उन्हें अपनी गलती का एहसास लगी। वे तत्काल कुटिया में गए और वशिष्ठ के पैरों में गिर पड़े।

वशिष्ठ ने उन्हें हाथों से ऊपर उठाते हुए कहा 'स्वागतं आपकी तपस्या मुझसे छिपी नहीं है। पर मैंने सोचा कि जो आपकी तपस्या देखे, उसकी पूर्ति हो जाए। आज आप परिपूर्ण साधक बन गए हैं।'

विश्वामित्र के मन में जो रोषानल था, वह वशिष्ठ के प्रति व्यवहार से शीतल जलधर में बदल गया।

अपने विरोधी के प्रति हार्दिक भाव से गुणात्मक उद्देश्य से अभिव्यक्ति बहुत बड़ी बात है। उसके सामने कुछ कह देना

कषाय-परिज्ञा

कता है। लेकिन दूसरों के सामने उसकी अच्छाइयों की चर्चा
रास्त्व में कषाय की अल्पता का द्योतक है।

दो प्रकार

ध कषाय का एक अंग है। उसके दो रूप बहुत स्पष्टतया देखने
हैं। एक व्यक्ति प्रतिकूल स्थिति आते ही उबल पड़ता है। नदी के
परह उसका गुस्सा बढ़ता है। पर वह पांच-सात मिनट में शांत
है। दूसरा व्यक्ति अपने गुस्से को प्रकट नहीं करता, लेकिन
भीतर सुलगता रहता है। वह उसे मिटाने का कोई प्रयास नहीं
कभी थोड़ा-बहुत प्रयास करता भी है तो वह जल्दी से समाप्त
। जैसे क्रोध का पूर्व रूप भी अच्छा नहीं है, पर यह उससे
यंक है।

चार प्रकार

स्त्रों में चार उपमाओं से क्रोध के प्रकारों को समझाया गया है।
पानी में खींची गई रेखा के समान होता है। जिस प्रकार पानी
गई रेखा खींचने के साथ ही समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार
आने के साथ ही शांत हो जाता है। इसे संज्वलन क्रोध कहते
हैहप्रत्याख्यानावरण क्रोध। यह क्रोध रेत की रेखा के समान
जिस प्रकार रेत में खींची गई रेखा तत्काल समाप्त नहीं होती,
चलते ही समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार प्रत्याख्यानावरण
ड़े समय बाद समाप्त हो जाता है। इस क्रम में तीसरा स्थान
प्रत्याख्यानावरण क्रोध का। इस क्रोध को तालाब की मिट्टी में पड़ी
उपमित किया गया है। तालाब की मिट्टी में पड़ी रेखा हवा
नहीं मिटती, परंतु जब-कभी वर्षा होती है, वह मिट जाती है।
ह अप्रत्याख्यानावरण क्रोध सहजतया समाप्त नहीं होता, पर एक
क पश्चात शांत हो जाता है। चौथा अनंतानुबंधी क्रोध बड़ा
होता है। यह जीवन-भर शांत नहीं होता, बल्कि अगले जन्म में
रहता है। इस क्रोध को पत्थर में पड़ी रेखा से उपमित किया
पत्थर में पड़ी रेखा हवा और पानी से नहीं मिटती। उसको
लिए तो पत्थर को छेनी से तरासना ही होता है। इस क्रोध के
के सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता। और पूर्व में सम्यक्त्व
गा हो तो वह इस क्रोध के कारण वापस चला जाता है। सबसे
त यह है कि इस क्रोध के रहते आदमी कभी शांति की अनुभूति

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

नहीं कर सकता।

आकस्मिक दुर्घटना से कोई मर जाए, यह किसी के हाथ नहीं है। पर अपना ही हथियार अपने पर चलाना, मूर्खता का प्रकषाय व्यक्ति का अपना हथियार है। इससे क्षण-क्षण आत्मविनाश होता है। आश्चर्य! फिर भी मानव संभलता नहीं है।

क्या स्वभाव बदल सकता है?

कुछ व्यक्तियों की धारणा के अनुसार स्वभाव में परिवर्तन सकता। इस मान्यता में सत्यांश तो हो सकता है, पर यह एव नहीं है। यदि जीवन में संशोधन हो ही नहीं सके तो तपस्या जाएगी। मेरा अभिमत यह है कि स्वभाव में भी परिवर्तन हो सके लेकिन वह अभ्यास-साध्य है। आज तो अनेक असाध्य बीमारियाँ साध्य बना दिया गया है। फिर हमारी मानसिक वृत्तियों में असा कोई रोग है ही नहीं। उनकी स्वस्थता के लिए अपेक्षा हैह्नआत और अभ्यास की।

अभी-अभी मेरे पास एक युवक आया। उसका नाम हैह्नकै करीब दो वर्ष पहले जब वह दर्शनार्थ आया था, तब उसका शरीर स्थूल था। मैंने उससे कहाह्न'शरीर बढ़ाने से मुश्किल हो जाएगा। पूछाह्न'मुझे क्या करना चाहिए?' मैंने कहाह्न'योगासन आध्यात्मिक शारीरिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं।' मेरे एक वाक्य आस्थावान हो गया। आज जब उसने मुझे आसनों के प्रयोग में चकित रह गया। उसके भारी शरीर में भी असाधारण लचक है। यह एकमात्र अभ्यास का सुपरिणाम है।

कषाय मिटाने के लिए सच्चे दिल से सलक्ष्य अभ्यास कि यह आवश्यक है। प्यास लगने पर पानी के लिए जैसी तड़प वैसी ही तड़प से हर काम में सफलता मिल सकती है। मैं कहता हूं कि किसी भी कार्य में सफलता पाने के लिए गहन अभ्यास और लंबे काल की अपेक्षा है।

कषाय-परिज्ञा का सीधा-सा अर्थ हैह्नउसके स्वरूप को उसे छोड़ना। कषाय को शांत करने से ही वास्तविक शांति संभव नई दिल्ली

२ अक्टूबर १९६५

कषाय-परिज्ञा

१५ : योग-परिज्ञा

ज्ञा का विवेचन चल रहा है। उसके अंतर्गत उपधि-परिज्ञा, परिज्ञा और कषाय-परिज्ञा के बारे में आपने सुना। आज योग-ज्ञा को जानें। योग का अर्थ हैहृत्प्रवृत्ति। वह मन, वाणी या शरीर से प्रवृत्ति है। इसलिए योग की समग्र परिभाषा हैहृत्वीर्यातरायकर्म के क्षय या कषाय तथा शरीरनामकर्म के उदय से निष्पन्न और कायवर्गणा, वाणी व मनोवर्गणा के संयोग से होनेवाले शरीर, वचन एवं मन के प्रवृत्तिरूप आत्मा के परिणमन। शरीर का काम हैहृत्हलन-चलन और रक्त-स्पंदन करना। वाणी का काम हैहृत्बोलना। मन का काम हैहृत्प्रवृत्ति-विकल्प करना। एकेंद्रिय से पंचेंद्रिय तक के सभी प्राणी योग-ज्ञा होते हैं। यों तीनों योग सब प्राणियों में नहीं होते, किंतु शरीर योग-ज्ञा न हो, ऐसा कोई प्राणी तेरहवें गुणस्थान तक नहीं है। चौदहवें गुणस्थान में योगों का सर्वथा निरोध हो जाता है, इसलिए उस प्राणी के जीव तथा सिद्धहृत्मात्र ये दोनों अयोगी होते हैं।

और निरोध

योगों की प्रवृत्ति ठीक है या निरोध, यह एक प्रश्न है। योगों का निरोध करना सहज कार्य नहीं है। रोकने की चेष्टा भी करें तो वे योगों के लिये ही रुक सकते हैं। वाणी का निरोध करना कुछ आसान है लेकिन मन को स्थिर रखना बहुत कठिन है। इसे एकाग्र बनाने का प्रयत्न किया जाता है, तब एक बार तो यह अत्यंत व्यग्र हो जाता है। रक्त-स्पंदन इसके, साधना के द्वारा इस पर काबू हो सकता है। इससे शरीर काया का निरोध। एक व्यक्ति हलन-चलन नहीं करता, शरीर का प्रवास की क्रिया भी नहीं करता, फिर भी उसके हृदय और रक्त-स्पंदन चलता रहता है, रक्त प्रवाहित होता रहता है। यह भी योग-ज्ञा चंचलता है। सिद्धांततः योगों का निरोध अच्छा है और अंततः योग-ज्ञा ही है। पर इनकी चंचलता भी निरर्थक नहीं है।

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

आचारांग में एक वाक्य आता है **हैहजं जाणेज्जा उच्चा**
जाणेज्जा दूरालइयं, जं जाणेज्जा दूरालइयं तं
उच्चालइयं। इसका अर्थ हैहजो उच्चालयिक है, वह दूरालयिक
जो दूरालयिक है, वह उच्चालयिक है। इस वाक्य में उच्चा
दूरालयहये दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। जो व्यक्ति उच्चालयिता यानी
करनेवाला है, उसका आलय दूर है, क्योंकि जिसे जितना अधिक
होता है, वह अपनी गति में उतनी ही तीव्रता लाता है। मुक्त
जीव में गति की जितनी तीव्रता होती है, उतनी किसी में न
मुक्त जीव एक समय (काल का सूक्ष्मतम भाग) में लोक के
तक पहुंच जाता है।

छेड़छाड़ जरूरी है

जिस व्यक्ति को मोक्ष पहुंचना है, उसे अपने बंधनों से
करनी ही पड़ेगी। उच्चालना से बंधन खत्म हो जाते हैं और
स्वस्थ हो जाता है। महाकवि कालिदास ने लिखा है
चलितेन्धनेऽग्निः विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते। अर्थात्
इधर-उधर करने से अग्नि प्रज्वलित होती है, सर्प को छेड़ने से
करता है। इसी प्रकार स्वाध्याय, ध्यान और तपस्या के द्वारा
बंधन टूटकर गिर जाते हैं।

होम्योपैथिक और प्राकृतिक चिकित्सा में भी एक बार
छेड़छाड़ की जाती है। इससे बीमारी बाहर आ जाती है और
लाभ हो जाता है। बीमारी को निकाले बिना ली गई दवा स्थ
नहीं करती। इसलिए उच्चालना करना आवश्यक हो जाता है।

उच्चालना विधि पक्ष है। योगों की प्रवृत्ति को भी इससे
मिलता है। लेकिन प्रवृत्ति अशुभ योगों की नहीं होनी चाहिए।
में निष्णात होने के लिए आध्यात्मिक चिंतन करना जरूरी है।
की प्रवृत्ति गुणी व्यक्तियों के गुणगान करने से, भजन और
करने से शुभ होती है। इसी प्रकार गुरु-वंदन, योगासन आदि
सत्प्रवृत्तियां हैं।

नारकी के बंधन कट गए

श्रीकृष्ण वासुदेव ने एक साथ हजारों साधुओं को विधि
बैठकर वंदना की। जब वे भगवान अरिष्टनेमि के पास पहुंचे त

योग-परिज्ञा

कड़ों संग्रामों में जो थकान महसूस नहीं हुई, वह आज हो रही चूर-चूर हो रहा है।’

वान अरिष्टनेमि ने कहाह‘आज तक इतनी थकान नहीं हुई तो इतना लाभ भी नहीं हुआ। आज तुमने सहजतया साधुओं को । इससे तुम्हारे नारकी के बंधन कट गए।’ यह सुनकर श्रीकृष्ण प्रभो! तब तो एक बार फिर सबको विधिवत वंदन करके आता हूँ।’ कृष्ण को सप्रयोजन वंदना के हेतु प्रस्थान के लिए उद्यत देखकर ने उन्हें समझायाह‘अब वह समय चला गया है। उस समय न में कोई इच्छा नहीं थी, लालसा नहीं थी, इसलिए तुम्हारी अधिक सार्थक हुई। मन में लालसा रखकर प्रवृत्ति करने से वह मिल सकता। इस समय तुम वंदना करोगे तो वह सहज नहीं समें कृत्रिमता और प्रलोभन के भाव का योग होगा।’

गोर्ण हो गई !

ना की भी अपनी-अपनी पद्धति होती है। यह एक सांस्कृतिक है। पर संस्कृति की विस्मृति होने से मूल पद्धति भी लुप्त हो विजयलक्ष्मी पंडित ने अपनी विदेश-यात्रा के कुछ अनुभव वे साप्ताहिक हिंदुस्तान में प्रकाशित हुए हैं। एक अनुभव में सिखा हैह‘हमने हमारी संस्कृति छोड़ दी। हम किसी से मिलते हैं मिलते हैं। पर हाथ मिलाने की संस्कृति हमारी नहीं है। भारतीय में हाथ जोड़ने की पद्धति है। जब मैं भारतीय राजदूत के रूप में तो वहां के शासन-प्रमुख से मिली। उससे पहले मैंने अपने चारियों को सिखा दिया था कि हमें भारतीय विधि से हाथ और नमस्ते कहना है। जब हम लोग वहां पहुंचे तो मैंने हाथ नमस्ते कहा, लेकिन मेरे सब कर्मचारी इस बात को भूल गए। र मैं अपने कार्य में अनुत्तीर्ण हो गई। इसका कारण है अपनी का विस्मरण।’

न सपू हाउस में प्रधानमंत्री श्री शास्त्रीजी और इंदिराजी आए। हाथ जोड़कर अत्यंत विनम्रतापूर्वक सब साधुओं को नमस्कार नमस्कार करने से साधु बड़े नहीं होते, प्रत्युत नमस्कार करनेवाले विनम्रता व्यक्त होती है। आज की स्थिति यह हो गई है कि पढ़ने के बाद व्यक्ति को गुरुजनों और माता-पिता को भी ने में लज्जा महसूस होती है। यह विदेशी संस्कृति का प्रभाव है।

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

उच्चालना प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति भी आवश्यक वचन और काया का व्युत्सर्ग करने से अयोगावस्था आती है। इ व अशुभ दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है। श की प्रवृत्ति से निर्जरा होती है। लेकिन महानिर्जरा का कारण नि निवृत्ति का अभ्यास करने के लिए ध्यान और कायोत्सर्ग को आवश्यक है। निवृत्ति के बिना प्रवृत्ति की शक्ति भी क्षीण हो तीर्थकर अपने जीवन में उत्कृष्ट प्रवृत्ति करते हैं, पर उससे निवृत्ति से शक्ति प्राप्त करते हैं। वह शक्ति संसार के लिए अवदान के रूप में काम आती है। हम भी निवृत्ति का अभ्यास हमारे सौभाग्य को जगानेवाला सिद्ध होगा।

नई दिल्ली

३ अक्टूबर १९६५

योग परिज्ञा

१६ : भक्तपान-परिज्ञा

के दो प्रकार

दो प्रकार की परिज्ञाओं के अंतर्गत पांचवीं परिज्ञा हैहभक्तपान-भक्तपान-परिज्ञा का अर्थ हैहभोजन-पानी का परित्याग। जैन-बंधन और मुक्ति का प्रसंग बहुत सूक्ष्मता के साथ विश्लेषित बंधन का स्वरूप, उसके हेतु और बंधन की प्रक्रिया का करानेवाले आचार्यों ने बंधनमुक्ति का भी विस्तृत विवेचन किया है। मुक्ति के लिए कर्मों की निर्जरा करनी होती है। निर्जरा का भेद है। उनमें पहला भेद हैहअनशन। अनशन का अर्थ हैहभोजन का परिहार। इसके दो रूप हैंहइत्वरिक और यावत्कथिक। एक दिन उपवास से लेकर छह मास तक के उपवास को इत्वरिक अनशन कहते हैं। मृत्युपर्यंत आहार का परिहार यावत्कथिक अनशन है। यह शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। पर जब से राजनीति में यह हथियार के रूप में काम आने लगा है, इसकी गरिमा के आगे प्रश्नचिह्न लग गया है। छोटी-से-छोटी मांग मनवाने के लिए अनशन की धमकी देना, अनशन का अपकर्ष है। शब्दों की दुनिया में भी उत्कर्ष और अपकर्ष का घटित होती रहती है। राजनीति या तुच्छ स्वार्थ से जोड़कर अनशन की छवि धूमल बनाने का प्रयत्न होने पर भी धर्म के क्षेत्र में अनशन की ज्ज्वलता सुरक्षित है।

यावत्कथिक अनशन के अनेक प्रकार बताए गए हैं। उनमें तीन प्रकार हैंहभक्त-परिज्ञा, प्रायोपगमन और इंगिनीमरण। आहार का त्याग करने से पीना अनशन की पूर्णता नहीं है। इसकी पूर्णता आहार, पेय, दवा और स्वाद्यहसब प्रकार की वस्तुओं के परित्याग से होती है। अनशन का एक दूसरा शब्द भी हैहसंधारा। यह जैनों का पारिभाषिक शब्द है। इस शब्द के प्रचलन का भी एक कारण है। अनशन के समय अनशन करने वाले सोने की परंपरा नहीं है। घास-फूस का बिछौना कर जमीन

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

पर ही शयन करने की पद्धति रही है। उस बिछौने को सथ
जाता है।

यहां एक प्रश्न होता है कि मनुष्य खाना-पीना क्यों छोड़े
शरीर-निर्वाह का साधन है और शरीर धर्म का साधन है। कहा
शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। शरीर की स्वस्थता भोजन प
है। शरीर है तो प्रवृत्ति है। शरीर है तो धर्म है। फिर इसे छोड़ने की व

मृत्यु भी महोत्सव है

जैन तीर्थकरों ने इस प्रश्न को उठाया और अपने अप्रतिम
नया चिंतन तथा विश्लेषण दिया। उन्होंने कहा कि जीने के वि
हैं तो मृत्यु के लिए भी कुछ होना चाहिए। जीना आवश्यक है
भी अनावश्यक नहीं है। जीना और मरनाहये जीवन की दो अव
जीवन की कोई अवस्था व्यर्थ नहीं होती। जीने को महोत्सव म
है, उसी प्रकार मृत्यु भी महोत्सव है।

अध्यात्म की बात एक बार हम छोड़ भी दें, राष्ट्रहित
अपना बलिदान करनेवाले भी मृत्यु को महोत्सव मानते हैं।
हंसते-हंसते मौत का वरण करते हैं और उत्साह से मरने की
करते हैं, वे सोचते हैं कि हम अपना लक्ष्य पूरा करके मर
इसलिए यह हमारे लिए उत्सव है। युद्ध में वीरगति-प्राप्त सै
वीरता के संवाद समाचारपत्रों में छपते हैं। इससे दूसरों को
प्रेरणा मिलती है कि राष्ट्र-हित में हम भी अपना अस्तित्व वि
दें। जो लोग मरते हैं, वे मरकर भी संतुष्टि का अनुभव
आंतरिक वीरता बिना मरना बहुत कठिन है। भारत और पाक
युद्ध में कमांडर ज्यादा मरे, क्योंकि उन्होंने आगे बढ़कर मार्ग
ऐसा किए बिना वे अपने कर्तव्य का निर्वाह नहीं कर पाते।

किसी राष्ट्र में सब लोग वीर नहीं होते। कई व्यक्ति युद्ध
पर जाकर भी नहीं घबराते, लेकिन कुछ लोगों का दिल घर
दहल जाता है। परसों ही मेरे पास सुप्रीम कोर्ट से एक ज
उन्होंने कहाह 'मेरी एक लड़की बमबारी से घबरा गई। दो दिन
उसने नींद ही नहीं ली। मैंने उसे समझाया कि घबराने की व
नहीं है। हमारी मौत नहीं है, तो हम बमबारी के बीच भी सु
जाएंगे। इसके विपरीत यदि हमारी मृत्यु निकट ही है तो हम
क्यों न चले जाएं, बच नहीं सकेंगे।'

भक्तपान-परिज्ञा

कब तक?

हिंसा है। व्यक्ति न मृत्यु से भय खाए और न किसी दूसरे का। राष्ट्र-सुरक्षा के लिए मृत्यु का सामना किया जाता है, यह है। पर इससे भी अधिक मूल्यवान है आत्महित के लिए जब तक हमारे शरीर से हमारी साधना में सहयोग मिलता है, इसे भोजन देना जरूरी है। पर जब यह सहयोग देने में असमर्थ तो इसे कड़ी चुनौती देते हुए आहार बंद कर तपस्या में लग लिए।

का फल

असहयोग की चुनौती को सुनकर भी यदि शरीर साधना में न बने तो अपने आत्मबल को तौलकर दृढ़ निश्चयपूर्वक अनशन के लिए अनशन कर देना चाहिए। अनशन में पांच बातों का करना आवश्यक है— १. इहलोक की आशंसा २. परलोक की ३. जीवन की आशंसा ४. मरण की आशंसा ५. पूजा-श्लाघा सा।

स्या से इस लोक में उपलब्धियां होती हैं और परलोक में स्वर्ग भी मिलते हैं। लेकिन यह तपस्या का प्रासंगिक फल है। उसका आत्मोपलब्धि है। अतः अनशन के समय आत्मशुद्धि की इच्छा चाहिए; भेदविज्ञान का अभ्यास करना चाहिए। इससे आत्मा और शरीर का संबंध सदा-सदा के लिए विच्छिन्न हो सकता है। इस समाधिरमरण और पंडितमरण कहा जाता है।

जरूरी है

साधु-साध्वियां और श्रावक-श्राविकाएं अनशनपूर्वक मृत्यु का ना चाहते हैं। यदि कारणवश ऐसा न हो सके तो वे इसे कमी । हमारे आचार्यों ने भी अंतिम समय में अनशन किया है। बहुत मूल्यवान है, पर साथ ही इसमें खतरे भी कम नहीं हैं। मन कमजोर हो जाए तो त्याग के साथ खिलवाड़ हो जाता है। इस विषय में विवेक से काम लेना चाहिए। विवेक के अभाव में के स्थान पर दुर्गति हो सकती है। इस दृष्टि से निम्नांकित का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए—

सामान्यतः अनशन स्वयं ही स्वीकार न किया जाए। इसमें गुरु-साक्षी का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है।

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

● अनशन देश, काल की स्थिति देखकर करना/करवाना इसमें कभी जल्दी नहीं करनी चाहिए। युवावस्था और की स्थिति में झटपट अनशन करना/करवाना नए समस्याओं को न्योतना है।

● बेहोशी की हालत में भी अनशन नहीं करवाना चाहिए।

घबराकर मरना भूल है। जब भी शरीर भारभूत लगने ल तुरुण एवं स्वस्थ व्यक्ति को भी उन्माद सताए, संयम से मन हो जाए, तब संलेखना से शरीर को शक्तिहीन करके अनशन सकता है। विवेक से संपादित हर कार्य में सुंदरता आती है।

कई विद्वानों ने माना है कि जैन-दर्शन ने जो मरण-विधि है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यह बात अनशन के लिए ही कही अनशन मरने की कला है। इसमें अखूट साहस की अपेक्षा रहती समय स्वाध्याय, ध्यान और जप होता रहे। जिस अनशन में वेदना तथा आसक्ति सर्वथा मिट जाए, उस अनशन को ही अनशन माना गया है।

नई दिल्ली

४ अक्टूबर १९६५

भक्तपान-परिज्ञा

१७ : संघीय प्रवृत्ति का आधार

नय हैंव्यवहार और निश्चय। दोनों ही जीवन के आधार हैं।
य की दृष्टि से जो कार्य अधिक मूल्य नहीं रखता, वही
य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इसलिए व्यवहार को
केवल निश्चय को आधार मानकर चलना जीवन की पूर्णता नहीं
व्यक्ति कैसा है, यह उसके व्यवहार के आधार पर ही जाना
मनुष्य किस काम को करे और किसको छोड़े, यह निर्णय भी
पेक्ष है। स्थानांग में व्यवहार के पांच आधार बताए गए
आगम २. श्रुत ३. आज्ञा ४. धारणा ५. जीत।

व्यवहार

व्यवहार-संचालन में सबसे पहला स्थान आगम का है। आगम का
हेतुआप्तपुरुष। केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी,
धर और दशपूर्वधरहृये पांच प्रकार के ज्ञानी आगमपुरुष
हैं। साधना या व्यवस्था के प्रसंग में संदेह या उलझन उपस्थित
आगमपुरुष के निदेशानुसार व्यवहार करने का नाम आगम-
है।

धर और गणधर स्वयं प्रमाण होते हैं। उनके रहते शास्त्र देखने
त नहीं होती, क्योंकि शास्त्रों के स्रष्टा वे खुद होते हैं। हालांकि
शास्त्रों के प्रणेता तो नहीं होते हैं, तथापि उनकी ज्ञानसंपदा
होती है। वह संपदा उन्हें अध्ययन से नहीं, बल्कि क्षयोपशम से
होती है। अमुक पूर्वधर आचार्य के पास पूर्वों का अध्ययन करने
हेतुज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया का बोध करना। आचार्य अपने
व्य को विधि बता देते हैं। उसके अनुसार साधना और अध्ययन
विशेष लब्धि प्राप्त होती है। गणधर अंतर्मुहूर्त में चौदह पूर्वों का
लेते हैं, क्योंकि उनके पास विशिष्ट शक्ति होती है। पूर्व विपुल

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

ज्ञान के कोश हैं। यदि पूर्वों को लिखा जाए तो कवि ने कल्पना की अंबाबाड़ी-सहित एक हाथी गायब हो जाए, इतनी स्याही की कल्पना होती है। स्याही की कल्पना से हम जान सकते हैं कि उसके लिखने कागज, कितने समय और कितने व्यक्तियों की आवश्यकता होगी तो यह है कि पूर्वों का ज्ञान लिखा जाता ही नहीं।

श्रुत-व्यवहार

आप्तपुरुष न हों तो उनके द्वारा बनाए गए सूत्रों में जो विचार उनके अनुसार काम करना चाहिए। यद्यपि सूत्र बहुत छोटे होते हैं ज्ञान अनंत होता है। उसे किसी ग्रंथ में बांधना सर्वथा असंभव है। पदार्थ के अनंत पर्याय भी शब्दों के विषय नहीं बन सकते। अनंतानंत पदार्थों के पर्यायों को तो अभिव्यक्ति मिल ही कैसे सके। समुद्रतट पर खड़ा होकर कोई व्यक्ति दिन-भर लहरों की गणना भी उनका अंत नहीं होगा। इसी प्रकार कोई व्यक्ति हाथ में कैमरा लेकर एक ही मुनष्य का फोटो ले तो दिन-भर में कितने ही फोटो आ सकते हैं।

शास्त्रों का वैज्ञानिक अध्ययन हो

पर्याय का स्वरूप जानने के लिए सिनेमा के चित्र सहज देख सकते हैं। इस अर्थ में वैज्ञानिकों ने धार्मिकों का अच्छा सहयोग किया है। सैद्धांतिक तथ्यों को उन्होंने प्रयोग के धरातल पर साक्षात्कार दिया। अतः वैज्ञानिक दृष्टि से भी शास्त्रों का अध्ययन होना चाहिए ताकि सिद्धांत व्यवहार्य बन सकें।

बंबई के जब मैं मछलीगृह में मैंने अत्यंत सुंदर और मछलियां देखीं। उन्हें देखते ही भगवती सूत्र का वह वाक्य यथाशक्ति हुआ कि देवता चलते-चलते जब सुंदर मछलियों को देखते हैं, तो बनकर उनके साथ क्रीड़ा करने लगते हैं।

शास्त्रों में कहा है **हैहजे आसवा ते परिसवा, जे परिजा आसवा**। इसका अर्थ हैहजो कर्म-बंधन के कारण हैं, वे निर्जरा कारण हैं। जो निर्जरा के हेतु हैं, वे बंधन के निमित्त भी बन सकते हैं जिसे देखकर साधारण व्यक्ति बंधन करता है, एक ज्ञानी मनुष्य देखकर ही आत्मोपलब्धि कर लेता है।

एक सभ्य व्यक्ति वेश्या के पास गया। वह कुछ क्षण उसकी संघीय प्रवृत्ति का आधार

उसे मूल्य देकर वापस आ गया। दूसरे दिन वह फिर आया।
नजदीक जाकर लौट आया। तीसरे दिन ज्यादा नजदीक गया।
एकदम निकट गया। एक दिन उसने उसका स्पर्श किया और
एक दिन उसकी गोद में लेट कर चला आया। उसे वेश्या के
पर जाते देखकर सबको आश्चर्य होता और कई व्यक्ति तो यहां
देते कि ऊपर से तो साधु-सा लगता है, पर मन में तो पाप
। लेकिन तत्त्व को किसी ने नहीं समझा।

के वहां जाने का लक्ष्य थाहसाधना की परिपक्वता का
वह साधना के उत्कृष्ट मार्ग पर चलना चाहता था। उसने
प्रतिकूल स्थितियों में मेरा संतुलन कैसा रहता है, इसके लिए
यं को कसौटी पर कस लेना चाहिए। वेश्या को देखने से उसका
लित नहीं हुआ तो वह उसके निकट गया और गोद में लेटने
सकी मनःस्थिति में कोई अंतर नहीं आया, तब वह अपने को
उत्तीर्ण समझकर उसी दिन योगी बन गया।

प्रयोग साधारण व्यक्ति के लिए करणीय नहीं हैं, क्योंकि इनमें
संभावना अधिक रहती है। स्थूलिभद्र-जैसे महान इंद्रियनिग्रही
ऐसे प्रयोगों में सफल हो सकते हैं।

व्यवहार

सर्वज्ञ-प्रणीत होते हैं। इसलिए उनमें त्रैकालिक विवेक रहता है।
बातें तात्कालिक व्यवहारों के आधार पर भी लिखी जाती हैं।
जो कार्य किया जाए, उसकी विधि सूत्र में न हो तो आज्ञा के
पर काम करने का विधान है। आज्ञा का अर्थ हैहदो गीतार्थ
आचार्यों की सहमति से प्रवर्तन करना।

स्पना कीजिए कि दो विशेषज्ञ आचार्य भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में रहते
एक ऐसी बात सामने आई, जो सूत्रों में चर्चित नहीं है। ऐसी
एक आचार्य के दिमाग में कोई चिंतन आए तो वे उसे गूढ़ार्थ
लिखकर किसी अगीतार्थ मुनि के हाथों दूसरे आचार्य के पास
आचार्य उन गूढ़ अर्थवाले पद्यों को पढ़कर गूढ़ शब्दों में ही
उत्तर लिख दें। मुनि उस उत्तर-पत्र को लेकर आ जाए, तब
दोनों की विचारधारा मिल जाने की स्थिति में नया प्रवर्तन

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

कर दें। यह आज्ञा-व्यवहार है।

जब गंगापुर में पूज्य कालूगणी अस्वस्थ थे, तब आचार्य पंडित रघुनंदनजी शर्मा चिकित्सा कर रहे थे। औषध से कोई लाभ न हुआ तो उन्होंने किसी अच्छे वैद्य से परामर्श करना चाहा। आस-पास कोई ऐसा वैद्य नहीं था, जो उन्हें परामर्श दे सके। जयपुर में दादूपंथी लच्छीरामजी वैद्य बहुत प्रसिद्ध थे। पर कतिपय पंथी कि उनसे परामर्श लेने के लिए यदि पंडितजी स्वयं चले जायें तो पीछे से संभाल कौन करे।

इस स्थिति में उन्होंने एक पत्र में कुछ संस्कृत-श्लोकों में पूरी स्थिति एवं प्रयुक्त औषध का विवरण दे दिया और पूछा कि 'मेरे ये प्रयोग ठीक हैं या नहीं?' उस पत्र को लेकर बिना सोची-सोची और पूनमचंदजी चोपड़ा जयपुर गए। लच्छीरामजी भी लिखकर उन्होंने श्लोक पढ़कर उनका उत्तर श्लोकों में ही देते हुए लिखा कि जो चिकित्सा की है, वह ठीक है। इस रोग की इससे बढ़कर और भी चिकित्सा नहीं है। लेकिन यह रोग कष्टसाध्य है। रोगी की शक्ति कम हो चुकी है और फिर वर्षा का प्रकोप है। इसलिए स्वास्थ्य-लाभ हाथ की बात नहीं है।'

यह घटना आगम-निर्दिष्ट आज्ञा व्यवहार को स्पष्ट करती

धारणा-व्यवहार

जब ऐसे आचार्य या गीतार्थ मुनि न हों, जो विशेष रूप से रखते हों, तब उस साधु के कहने से काम करना चाहिए, जो अनुभवी है और अनेक आचार्यों का सान्निध्य पा चुका है। यदि वह कहे कि मुझे अच्छी तरह से याद है कि अमुक आचार्य ने ऐसे अमुक विधि से काम किया था तो उसके विश्वास पर वह कार्य करना देना चाहिए। यदि उसमें गलती भी रह जाए तो भी वह सह्य करे क्योंकि धारणा-व्यवहार के आधार पर वह काम किया गया है।

जीत-व्यवहार

आचार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर प्रवृत्ति आत्मार्थी दृष्टिकोण और निष्पक्ष बुद्धि से किसी प्रवृत्ति को अमान्य करें अथवा नया प्रवर्तन करें, वह जीत-व्यवहार है। यह संघीय प्रवृत्ति का आधार

म- व्यवहार की तरह मान्य होता है।

पाँचों व्यवहारों को आधार मानकर चलनेवाला साधक भगवान का आराधक होता है। पुरानी रेखाओं पर चलना और वे नई रेखाएं खींचनाहदोनों ही कार्य सरल नहीं हैं। साधक न तो फकीर बने और न ही नवीनता से व्यामोह करे। इन व्यवहारों उसे जो उचित मार्ग मिले, उसी पर चलकर अपनी साधना अभीष्ट है।

मी,

मर १९६५

जागो ! निद्रा त्यागो !!

१८ : व्यवहार का प्रयोग कब और कैसे?

कल के प्रवचन में आपने आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा, जीतहइन पांच व्यवहारों के बारे में सुना। साधु-जीवन की विधि-निषेध का पूरा क्रम व्यवहार के आधार पर चलता है। वैज्ञानिक युग में किसी निराधार बात को स्वीकृति नहीं आधारहीन या अप्रामाणिक तथ्य का कोई मूल्य भी नहीं होता। से शिष्य ने अपने गुरु से पूछाह'भंते! आप्तपुरुषों ने अपनी सत्यता द्वारा सत्य का साक्षात्कार किया। अपने अनुभवों को उन्होंने तथ्य के रूप में उस वाणी को गणधरों एवं पूर्वधरों ने पकड़ा। उत्तरवर्ती आचार्यों ने उसका संपादन किया। उसके आधार पर ही धर्मसंघों की विधि-निषेध चलती है। पर कदाच उसमें कहीं कोई ऐसी नई बात आती है? बुद्धिगम्य न हो सके तो क्या करना चाहिए? इस संदर्भ में हमारा प्रश्न है कि हमें क्या करना चाहिए? बहुश्रुत मुनियों ने उसे किस रूप में लिया? सब तथ्यों की पुष्टि के लिए हम किस प्रमाण को आधार मानकर

व्यवहार का उपयोग कैसे?

गुरु ने समाधान दियाह'आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा, जीतहइन पांचों व्यवहारों का उपयोग उसी रूप में किया जाना चाहिए जिस रूप में इनका प्रयोग हुआ है। मूल बात यह है कि द्रव्य, काल और भाव को देखकर प्रवृत्ति होनी चाहिए। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अनुसार यह समझना आवश्यक है कि अमुक विधान किसने किस रूप में किया है। केवल विधि या निषेध को जानकर काम करना सर्वत्र उचित नहीं रहता।'

मुनि के लिए एक विधान है कि वह रोटी और राब मांग सकता है। यहां रोटी और राब दोनों शब्द निर्विशेषण प्रयुक्त गहराई में नहीं पैठनेवाला इन शब्दों को पकड़कर हर प्रकार की मांग और राब मांग सकता है। लेकिन इस विधान का आशय यह है कि व्यवहार का प्रयोग कब और कैसे?—

में जो चीज साधारण हो, उसको ही मांगकर लेना है। कहीं-साधारण नहीं होती है। वहां कोई दूसरी चीज साधारण हो तो मांगकर लिया जा सकता है। जैसेहबंगाल में चावल साधारण होते हैं-विधानों में रूढ़ता न होने से ही यह अर्थ-बोध संभव है। यदि साधना रहेगी तो किसी भी स्थिति में उलझन पैदा नहीं होगी।

में किसी वस्तुविशेष को मांगकर लेने का विधान है ही नहीं। हैह**ओहासणभिक्षा**। इसका अर्थ हैहअमुक चीज दो, इसको मांगकर लेना। टीकाकारों ने इसका अर्थ किया हैहविशिष्ट द्रव्य को लेना। ऐसा करना मुनि के लिए वर्जित है। आगे चलकर रोटी, पानी, छाछ, राब आदि सामान्य वस्तुओं के नामों का मांगकर दिया। यदि रोटी-जैसी सामान्य चीज भी मांगकर न ली जाई, तो कई क्षेत्रों में भूखे रहने की स्थिति आ सकती है, क्योंकि बहुत-साधुओं की चर्या से अपरिचित होते हैं। वे नहीं जानते कि रोटी देनी चाहिए। भगवान ऋषभ के साथ और क्या हुआ था? पानी रोटी की कोई कमी नहीं थी। पर लोग जानते नहीं थे और मांगते नहीं थे। फलतः उन्हें एक वर्ष तक निराहार रहना पड़ा। आगे चलकर मांगकर लेने की बात को स्वीकृति मिली। पर प्रवृत्ति भी क्षेत्र देखकर होनी चाहिए। मूलभूत बात यह है कि दृष्टि की दृष्टि को गौण करके तटस्थ दृष्टि से इस विषय पर चिंतन होना चाहिए।

और अपवाद

निराहार मांगकर नहीं लेनाहयह उत्सर्ग मार्ग है। रोटी-पानी मांगकर लेना अपवाद मार्ग है। उत्सर्ग धारावाही होता है और अपवाद में चलना पड़ता है। आवश्यकतावश टलकर चलना भी बहुत जरूरी धारावाही मार्ग बहुत लंबा हो तो पगडंडियों से चलने में भी दोष नहीं है। पर शर्त एक ही है कि जिस लक्ष्य से धारावाही मार्ग से चलते हैं, उसी से जाने पर भी लक्ष्य वही रहे। उत्सर्ग मार्ग यदि साधना के लिए है तो अपवाद मार्ग भी साधना के लिए ही हो। इस प्रकार अपवाद से व्यवहार को काम में लिया जाए तो वह आज्ञा की प्रवृत्ति होती है।

मी,

अप्र १९६५

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

१९ : जागो! निद्रा त्यागो!!

मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—संयती और असंयती। दूसरे प्रकार के संयम नहीं होता, अतः इस आधार पर विभाजन का प्रश्न उठता। संयम और समाधि में तादात्म्य संबंध है। समाधि के संयम फलित नहीं होता और संयम के बिना समाधि हो नहीं सकती। *दशवैकालिक* में कहा है—

**हृत्संजए पायसंजए, वायसंजए संजए
अज्झप्परए सुसमाहियप्पा, सुत्तथं च वियाणई जे स**

हृत्संजए जो व्यक्ति हाथ, पांव, वाणी और इंद्रियों से संयम अध्यात्मरत है, सुसमाधिस्थ है और सूत्र व अर्थ का वह भिक्षु है।

साधक और असाधक का विवेक संयम से होता है। महात्त्व इसी दृष्टि से अधिक है कि उसका संयम के साथ संबंध

उड्डिए नो पमायए

संयती और असंयती दोनों इंद्रियवान मनुष्य हैं। दोनों के पांचों इंद्रियों के विषय हैं। यहां तक की स्थिति एक सरीखी है। आगे इंद्रिय-प्रयोग और विषय-ग्रहण में बहुत बड़ा अंतर आता है। संयमी दो प्रकार के होते हैं—सुप्त और जाग्रत। सोकर जगने मिलते हैं और जगकर सोनेवाले भी। *आचारांग* में एक वाक्य है—**उड्डिए नो पमायए**। इसका एक अर्थ है—उठो, प्रमाद मत करो। इसका दूसरा अर्थ यह भी है—जग गए हो तो फिर प्रमाद क्यों? सुषुप्ति रहती है, तब तक प्रमाद हो सकता है। पर सावधान होकर प्रमाद करना अनुचित है।

संयमी व्यक्ति सोते हैं, खाते हैं, दूसरी-दूसरी आवश्यकताएं भी करते हैं, क्योंकि ये सब संयम में साधक हैं। दूसरी बात यह है कि उनका सामर्थ्य इतना जाग्रत नहीं है कि वे अविश्रांत चले जायें। इसलिए उनको सोने की, विश्राम लेने की, भोजन करने की

जागो! निद्रा त्यागो!!

शयन शब्द के दो अभिधेय हैं। पहला हैहसोना यानी नींद
दूसरा हैहप्रमादी होना। साधुओं में दोनों प्रकार का शयन हो
सकता है, क्योंकि छोटे गुणस्थान तक प्रमाद भी रहता है।

साधु का मूल्य

साधु सोता है, उसकी इंद्रियों के पांचों विषय जग जाते हैं।
विषयों के प्रति आकर्षण पैदा हो जाने से व्यक्ति प्रमादी हो जाता
है। यदि विषय प्रज्वलित अग्नि की तरह सशक्त होते हैं। भस्माच्छन्न
वस्तु को जलाती नहीं। पर जलती हुई अग्नि सबको भस्म कर
देती है। इसी प्रकार जाग्रत विषय ही बंधन के निमित्त बनते हैं।

जब तक मुनि जाग्रत रहते हैं, तब तक उनके शब्दादि विषय सोए
जाते हैं। क्योंकि जब तक व्यक्ति सावधान रहता है, दूसरा कोई उसका
विषय नहीं कर सकता। एक व्यक्ति दिन-भर बात करता है। यदि उसकी
जाग्रत है तो कोई भी उसे शब्दों से पकड़ नहीं सकेगा। इसके
अलावा यदि भीतर सुषुप्ति होगी तो दो क्षणों में अपने ही शब्दों द्वारा
विषय हीत हो सकता है। साधु सिद्ध नहीं, साधक होता है। अतः
साधु का प्रमाद होने की संभावना रहती है। किंतु आत्मार्थी साधक
अपने पर उसका प्रतिकार कर लेता है। यह नितांत अपेक्षित है कि
साधु का प्रश्रय न मिले। उसका अनुमोदन न हो। इसके साथ-साथ कुछ
काम भी काम में लिए जा सकते हैं, जिनसे सुषुप्ति सदा के लिए
नहीं आती।

एक लोकोक्ति हैहसोए सो खोए, जगे सो पाए। पर यहां पाने
की प्रतीक्षा, पूजा, प्रतिष्ठा और धन-वैभव की प्राप्ति ही नहीं है। यह तो
एक ही बात है। वास्तविक पाना तो आत्मोपलब्धि है। आत्मा को
मौलिक उपलब्धियों के प्रति आकर्षित होना सुषुप्ति का प्रतीक
है। सामायिक करता है। सामायिक का एक अतिचार हैह
सो सो सइ अकरणयाए। यानी सामायिक की विस्मृति होना दोष
है। प्रमाण के लिए एक मुनि के लिए समणोऽहंमैं श्रमण हूंइस बात को
बहुत बड़ी गलती है। मनुष्य दूसरी भूलें तब करता है, जब
स्वयं को भूल जाता है। इसलिए क्षण-क्षण में स्वयं की स्मृति बनी
रखनी है। इससे सुषुप्ति का लाभ उठानेवाले दुर्गणों को हावी होने का
संयोग मिले।

शुक्र, ७ अक्टूबर १९६५

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

२० : त्याग और भोग की सत्ता

.....वह त्यागी नहीं है

त्याग और भोग की सत्ता अनादिकालीन है। भारतीय त्याग-प्रधान संस्कृति है। पर इसमें भी भोगवादी मनोवृत्ति पनप गई है। दूसरी तरफ भोगवाद के चरम उत्कर्ष की स्थिति में भी महत्ता आंकी गई है। इसका अर्थ यह हुआ कि त्याग और भोग समकालीन हैं। एक ही व्यक्ति के जीवन में इन दोनों तत्त्वों को संयत कर सकता है। त्याग की पराकाष्ठा तक पहुंचनेवाले संयत कहलाते हैं। सदा जाग्रत रहते हैं। असंयत व्यक्ति सो रहे हों या जाग रहे हों, में उन्हें सुप्त ही कहा गया है। असंयत व्यक्ति की इंद्रियां असंयत हैं, मन असंयत रहता है। उस स्थिति में भले वह पदार्थ का उपभोग करे या न करे, त्यागी नहीं माना जा सकता। *दसवैकालिक* सूत्र में कहा

**वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुञ्जति, न से चाइ ति वुच्चइ॥**

जो व्यक्ति परवशता से भोगों का त्याग करता है, वह त्याग कर सकता है। मन में भोग की आकांक्षा है, पर अक्षमता के कारण त्याग करता है, वह कैसा त्यागी? आंखें रूप देखने में आसक्त, ज्योति कम होने के कारण जो देख नहीं सकता, वह संयमी नहीं है। आंख, नाक, कान आदि सब इंद्रियां स्वस्थ हैं, पल-पल भोग की इच्छा है, किंतु भोग-सामग्री उपलब्ध नहीं है, इस स्थिति में भोग का त्याग करनेवाला व्यक्ति त्यागी नहीं होगा, क्योंकि सामग्री उपलब्ध होने पर भी उसकी वृत्तियों में त्याग नहीं है।

साधुत्व किसलिए?

कुछ लोगों का तर्क है कि गृहस्थ भी धर्म कर सकता है। साधु बनने से क्या लाभ। तर्क ठीक है। मैं मानता हूँ कि गृहस्थ

त्याग और भोग की सत्ता

को आराधना हो सकती है। पर उसकी एक सीमा है। कोई भी अर्पित: संयम स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि वह अनेक प्रकार की श्रृंखला में जकड़ा हुआ रहता है। वह आगे जाना चाहता है, परन्तु बंधन उसे रोकते रहते हैं। साधु सांसारिक बंधनों से सर्वथा मुक्त इसलिए वह निर्बाध गति से धर्माराधना कर सकता है।

स्थ-जीवन में कर्म-बंधन के सब रास्ते खुले रहते हैं। अतः हर एक का बंधन होता है। कुछ नहीं करने पर भी बंधनों की श्रृंखला चले जाती है। बीज बोने के बाद वह प्रतिदिन फलता-फूलता रहता है। अणु-अणु, किसी गृहस्थ ने ठेकेदार को आदेश दिया कि तीन मास में तैयार करना है। इसके बाद भले वह अपना अधिकांश समय एक क्रियाओं में लगता है, फिर भी उस मकान बनाने का पाप लगता है। इसीलिए तो कहा गया है—

- बन्धे गिहवासे। मोक्खे परियाए।
- सावज्जे गिहवासे। अणवज्जे परियाए।
- सोवक्केसे गिहवासे। निरुवक्केसे परियाए।

स्थिर अस्थिरता के कारण कोई साधु पुनः गृहस्थ जीवन में आतुर हो जाए, तब उसे स्थिर बनाने के लिए भगवान ने गृहस्थवास बंधन है, सावद्य है और सोपक्लेश है।

स्थ-जीवन को बंधन आदि मानने का अर्थ यह नहीं है कि यह अणु-अणु घृणित या निंदनीय है। जिस व्यक्ति का मन विरक्त हो जाता है, गृहस्थ-जीवन में कोई रस नहीं मिलता। किंतु जो व्यक्ति विरक्त नहीं है, गृहस्थ-जीवन बहुत सुविधादायक प्रतीत होता है। पर इस जीवन में अच्छे ढंग से जिया जाए तो व्यक्ति सज्जन और सन्नागरिक बन सकता है। अच्छे ढंग से जीने का अर्थ है—अपना आचरण उंचा रखना। अभाव में कोई किसी को सज्जन या सन्नागरिक बनाने नहीं सकता।

नहीं बना सकता

जैड के राजा के पास एक व्यक्ति रहता था। राजा उसकी सेवा करता था। वह उसे उंची पदवी देना चाहता था। एक दिन उसे राजा ने अपनी इच्छा व्यक्त की। उस व्यक्ति ने कहा—‘यह पदवी बड़ी कृपा है कि आप मेरा सम्मान बढ़ाना चाहते हैं। मैं भी

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

अपनी उन्नति देखना चाहता हूँ। पर मेरे मन में किसी अन्य आकांक्षा नहीं है। हाँ, सज्जन अवश्य बनना चाहता हूँ। अतः देना ही चाहते हैं तो सज्जन की पदवी दें।’ राजा ने कहा। जमींदार बना सकता हूँ। लार्ड बना सकता हूँ।…… पर सज्जन मेरे हाथ की बात नहीं है। तुम्हारी स्वयं की आत्मा ही तुम्हें इस गरिमा तक पहुँचा सकती है।’

सदाचार की दृष्टि से गृहस्थ का जीवन भी ऊँचा हो सकता है। पूर्ण संयम की तुलना में वह कुछ भी नहीं है। लेकिन संयम मात्र पदार्थ का त्याग नहीं है। पदार्थ के प्रति होनेवाली आसक्ति ही संयम तत्त्व फलित होता है। इस परिभाषा के अनुसार गृहस्थ साधु, आसक्ति सबको बांधती है।

बंधन के हेतु

संसारि प्राणी के कर्मबंधन का क्रम चलता रहता है। मुख्य कर्म-बंधन के पांच हेतु हैं—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और हिंसा का मूलभूत संबंध किसी के प्राण-वियोजन या हथियार नहीं है। ऐसा तो कभी-कभी होता है। वास्तव में तो असत्प्रवृत्ति-मात्र हिंसा है। असत्याचरण भी बहुत सूक्ष्मता से होता है। शरीरगत, भावगत और भाषागत कुटिलता असत्य है। विसंवादिता भी असत्य की परिपोषक है। स्थूल रूप से किसी को चोरवृत्ति से उठाना चोरी है। पर उसके चेहरे भी अनेक ने व्यापारियों को प्रत्यक्ष रूप में तस्कर कहा है।

लौल्येन किञ्चित् कलया च किञ्चित्,
मानेन किञ्चित् तुलया च किञ्चित्।
किञ्चिच्च किञ्चिच्च समाहरन्तः,
प्रत्यक्ष चौरा वणिजो भवन्ति॥

ह वणिक लोभवश चोरी करते हैं। चातुर्य का प्रयोग करते हैं। तौल-माप में चोरी करते हैं। इस प्रकार थोड़े-थोड़े चुराते हुए भी वे चोरों की गणना में आ जाते हैं।

सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो घर के सदस्यों में पक्षपात रखना है। किसी को उसके अधिकारों से वंचित रखना भी चोरी है। स्वार्थ के लिए थोड़ी-सी चीज को भी इधर-उधर करना चोरी है।

अब्रह्मचर्य का संबंध वासना से है। व्यक्ति वासना की त्याग और भोग की सत्ता—

की आकांक्षा करता है और आसक्ति को पालता है। गृहवास में वासना से उपरत रहना बहुत मुश्किल है। यही बात परिग्रह की और उसके प्रति होनेवाली मूर्च्छाहिनियों को परिग्रह माना गया के इन पांच द्वारों को खुला रखकर कोई भी व्यक्ति संयम के अग्रसर कैसे हो सकता है? संयम त्याग है और असंयम चिरंतन सिद्धांत को समझकर विवेकपूर्वक त्याग की आराधना यही श्रेय-पथ है।

नी

अर १९६५

जागो ! निद्रा त्यागो !!

२१: भिक्षाचरी : एक विवेक

आज चतुर्दशी है। चतुर्दशी को हाजरी का वाचन होता है। शब्द का सामान्य अर्थ हैह्युपस्थिति। साधु-साध्वियों के उपासकों को जिन विधि-विधानों को पढ़ा जाता है, संकल्पों को दोहराया जाता है, उन उपचार से उन्हीं को हाजरी कह दिया गया है। वि. सं. १९५३ में तेरापंथ के चतुर्थ अधिशास्ता श्रीमज्जयाचार्य ने हाजरी की रचना की और मुनिश्री कालूजी स्वामी ने उसको लिपिबद्ध किया। जयाचर्या युग से एक शतक पहले हुए। वे इतने बहुश्रुत, दूरदर्शी और अद्वैत कि विलक्षण शास्ता बन गए। उस समय मनोविज्ञान का विवेक हुआ था, अन्यथा जयाचार्य एक निष्णात मनोवैज्ञानिक से कम नहीं होते। उनकी रचनाओं में व्यक्ति की मनःस्थिति का चित्रण जिस सूक्ष्मता हुआ है, वह उनकी अतिशायी प्रतिभा का प्रतीक है। साहित्य की विधाओं के तो मानो वे विशेषज्ञ ही थे। आज साधन-सामग्री के अनुभवी लोगों का सहयोग भी मिल जाता है। उस समय के सुविधा नहीं थी। इसके बावजूद उन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं का चामत्कारिक प्रयोग किए। शास्त्रों में कहा हैह्युपस्थिति नत्थिह्यद्रष्टा के लिए उपदेश नहीं होता। वे स्वयं महान द्रष्टा थे। अनेक नई पगडंडियां निर्मित कीं और जनता को भी पथ दिखाए।

हाजरी का बदलता रूप

संघ की सुव्यवस्था के लिए आचार्य भिक्षु तथा उनके आचार्यों ने समय-समय पर अनेक मर्यादाओं का निर्माण किया। उन मर्यादाओं का वाचन प्रतिदिन होता था। उसके बाद एक, दो, तीन दिन के अंतराल से अनिश्चित रूप से क्रम चला। पूज्य कालूगणी के समय सप्ताह में दो दिनहसोमवार और गुप्त मर्यादाओं का वाचन होने लगा। अब पक्ष में एक बारहचतुर्दशी निर्णीत है। अपेक्षित होगा तो भविष्य में इस क्रम में और भी भिक्षाचरी : एक विवेक

सकता है। जयाचार्य ने तीस हाजरी-पत्र बनाए। उनमें से एक-
री का प्रतिदिन वाचन होता था। *तेरापंथ-द्विशताब्दी* के अवसर
मर्यादा-पत्रों के सार-संक्षेप के रूप में एक हाजरी बना दी गई,
कल काम में ली जाती है।

विवेक

प्रीय मर्यादाओं की तरह ही शास्त्रीय मर्यादाएं भी हैं। देखकर
चेतनपूर्वक बोलना आदि शास्त्रीय मर्यादाएं हैं। उनमें एक मर्यादा
भिक्षा के दोषों का वर्जन करता हुआ भोजन-पानी ग्रहण करे।
दा के साथ आचार्य भिक्षु ने यह विवेक भी दिया कि वह
पानी दाता का अभिप्राय देखकर ले। हम भिक्षु हैं, याचक हैं।
स हर वस्तु गृहस्थों द्वारा प्रदत्त होती है। हम अपनी आवश्यक
स्थों से लेते हैं। पर लेने में पूर्ण सावधानी की अपेक्षा है। जिस
लेने से दाता को किसी प्रकार की कठिनाई न हो, वही चीज
सकती है। देनेवाले के सामने दबाव और प्रलोभन भी नहीं होना

धु अपने लिए बनाई हुई या खरीदी हुई वस्तु नहीं लेता, क्योंकि
अशुद्ध मानी गई है। अशुद्ध लेना और देनाहदोनों दोष हैं,
इस विषय में सजग रहना आवश्यक है। श्रावक भी साधुओं को
चाहते हैं, क्योंकि साधु को अशुद्ध देना पाप है। यह मर्यादा
नहीं है, सदा की है। ऐसे संस्कारों को सदा जीवित रखना है।
साधना में साधक है, वैसे ही अशुद्ध दान साधना में बाधक है।
नी ओर से पूरी गवेषणा करके लेता है, इसके बाद भी कोई
न दे तो वह दोष मुनि का नहीं है। धार्मिक दृष्टि से अशुद्ध दान
स्वयं पाप से भारी होता है।

की प्रतिष्ठा

पंथ-संघ की गोचरी की पद्धति अनूठी है। इस विधि के कारण
न सभी लोगों में तेरापंथी साधु-साध्वियों की प्रतिष्ठा है। दूसरे
के लोग भी उन्हें प्रसन्नता से भिक्षा देने के लिए तैयार रहते हैं।
न में पूरी भक्ति होती है। भक्ति व्यक्ति के प्रति नहीं, साधना के
नी है। मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी बताया करते थेहहं हम
में लोढा-परिवार में गोचरी गए। घर के बाहरवाले भाग में रसोई
थी। लोग हमें वहां ले गए। हमने अपनी विधि के अनुसार जांच

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

की तो प्रश्न खड़ा हुआ कि आप कौन हैं। उन्हें बताया गया कि तेरापंथी मुनि हैं। तेरापंथी साधुओं के रूप में परिचय पाकर वे आग्रह करने लगे और रसोई में बनी प्रत्येक चीज लेने के लिए आग्रह करने लगे। हमने पूछा कि बाहर रसोई किसके लिए बनती है? तब वे बोले कि हमें दिन-भर आते रहते हैं, उनके लिए एक अलग व्यवस्था कर दी जाए। प्रत्येक साधु के लिए एक-दो फुलके और दो चम्मच दाल की व्यवस्था है। तेरापंथी साधु तो कभी-कभार ही आते हैं और वे बहुत सीमित चीज लेते हैं। इसलिए आपको ऊपर लाया गया।

अशुद्ध देना पाप है

हमारे साधु और साध्वियां ध्यान दें, भिक्षा के विषय में गौरव प्राप्त है, वह सुरक्षित रहे। हम कहीं जाएं, वहां विधिवत भिक्षा करें। एषणा के दोषों को टालकर भिक्षा लें। सबको यह बताते हैं कि संतों को देना धर्म है, पर कोई भी चीज बनाते समय या खरीते समय उनको देने की भावना आ जाए तो वह मूल दोष है। यह पाप करने के लिए नया पाप करना है; कीचड़ साफ करने के लिए कीचड़ मिला करने के समान है। यह सच है कि देनेवाला गृहस्थ परम धर्म से भिक्षा देता है, किंतु धर्म का संबंध शुद्ध और पात्रदान के साथ है।

खीर एक विशिष्ट पदार्थ है। दूध, चावल और चीनी मिलकर निष्पत्ति होती है। पर इसमें थोड़ा-सा जहर मिला दिया जाए तो खाने से मृत्यु हो जाती है। ऐसी खीर किसी दूसरे को खिलाकर अपराध है। इसी प्रकार शुद्ध भिक्षा से परम लाभ होता है और भिक्षा जहर-मिश्रित खीर के समान है। उसे जानबूझकर लेनेवाले देनेवाला दोनों अपना अहित करते हैं।

सावधानी अपेक्षित है

भिक्षा लेते समय बहुत सावधानी रहनी चाहिए। श्रद्धालु अपने घर की सर्वश्रेष्ठ वस्तु साधु को देना चाहता है। वह उसे बहुत करता है। लेकिन दूसरों की भावना समझे बिना केवल एकाग्रता के आग्रह से सारी चीज ले लेने से दूसरों की आस्था में बाधा पड़ सकती है। बच्चे भिक्षा देने के लाभ से अनभिज्ञ होते हैं। अज्ञान मन पर बहुत बुरा असर हो सकता है। बच्चों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते रहना चाहिए। वे शब्दों से भले कुछ न भी कहें, कभी उनकी आस्था को गहरी ठेस पहुंच सकती है। इसलिए

भिक्षाचरी : एक विवेक

च्छा से जितना देना चाहे, उससे कम लेने की कोशिश होनी

मैं क्यों खाऊं

भोजन में कभी कोई विशिष्ट चीज आती है तो मेरे दिमाग में एक प्रतिक्रिया होती है कि मुझे जो चीज मिली है, वह सबको प्यार नहीं है, फिर मैं क्यों खाऊं; देश के लाखों व्यक्तियों को तो खाने के लिए पूरी रोटी भी नहीं मिलती, ऐसी स्थिति में चीज क्यों ली जाए। इस प्रकार के चिंतन से मेरी मानसिकता खराब होती है। कभी-कभी वह पदार्थ मुझे खाना भी पड़ता है, लेकिन पित्त और प्रसन्नता नहीं होती।

ज्ञान अनुभव

मनोज्ञ या अमनोज्ञ जो कुछ मिलता है, उनका माध्यम भिक्षा है। मनोज्ञ चीज को पाकर प्रसन्न नहीं होना चाहिए और अमनोज्ञ चीज से अप्रसन्न नहीं होना चाहिए। समय पर कुछ न भी मिले तो हीन-दीन नहीं समझना चाहिए। भिक्षा करते समय हमें अनुभव होना चाहिए। शास्त्रों में कहा है—

अहो जिणेहिं असावज्जा, विती साहूण देसिया।

मोक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा॥

मोक्ष की साधना में हेतुभूत शरीर की धारणा के लिए भगवान ने जिस निरवद्य वृत्ति का निदेश दिया है, वह कितनी सुंदर है! गृहस्थ भी प्रतिपल यह सोचते रहते हैं कि हमारे लिए वह दिन आता, जिस दिन हम भिक्षु बन सकेंगे। श्रावक के तीन मनोरथों में मनोरथ यही है—कब मैं मुंड हो, गृहस्थपन छोड़ साधुव्रत स्वीकार

से यह बात स्पष्ट होती है कि साधु का स्थान बहुत ऊंचा है। धनाधीशों से भी ऊपर होता है, बशर्ते कि वह अपने आचार जागरूक रहे। उसके लिए मर्यादा का बहुत महत्त्व है। मुनि बार-बार विधि-विधानों का प्रत्यावर्तन करता हुआ साधना में सजग अपेक्षा है।

गी

वर १९६५

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

२२ : अमृत क्या है? जहर क्या है

कोहो विसं किं अभयं अहिंसा,
माणो अरी किं हियं अप्पमाओ।
माया भयं किं सरणं तु सच्चं,
लोहो दुहं किं सुहमाहु तुट्ठी॥

संसार में विष भी है और अमृत भी। शत्रु भी है और भय भी है और त्राण भी। दुःख भी है और सुख भी। पर मनुष्य खोजता है और किसे प्राप्त करता है, यह उसके चिंतन और चिन्तन निर्भर है। विष, अमृत, शत्रु, मित्र, त्राण, दुःख और सुखहइन सारे दो रूप हैं—अंतरंग और बहिरंग। अंतरंग तत्त्व आत्मा के विकास से जुड़े हुए हैं, जबकि बहिरंग तत्त्वों का संबंध शरीर और पदार्थों से सीमित है। आप्तपुरुष अंतर्मुखी होते हैं। उन्होंने जो निरूपण उसके अनुसार क्रोध विष है और अहिंसा अमृत है। अभिमान और अप्रमाद मित्र है। माया भय है और सत्य शरण है। लोभ और संतोष सुख है।

विष खानेवाला व्यक्ति मृत्यु का वरण तक कर लेता है। विष तो मारक विष से भी अधिक भयंकर होता है। वह विष तो मनुष्य को प्रभावित करता है, जबकि क्रोध रूप जहर तो आत्मा का नुकसान कर देता है। क्रोध करने से शारीरिक और आत्मिक दोनों बल कम हो जाते हैं। इससे इसकी भयंकरता प्रत्यक्ष प्रमाणित होती है।

एक अफीमची और एक क्रोधीहृदयों की स्थिति समझनी चाहिए। अफीमची का शरीर मृतप्रायः हो जाता है। वह केवल अफीम पर निर्भर जीता है। गुस्सा करनेवाले व्यक्ति का जीवन भी सत्त्वहीन हो जाता है। वह अपने जीवन में कोई अच्छा काम नहीं कर सकता। क्रोध करने वाला मनुष्य की प्रकृति से है। जन्म से ही कई व्यक्ति गर्भमिजाज के कारण और कुछ व्यक्तियों का स्वभाव ठंडा होता है।

अमृत क्या है? जहर क्या है?—

अत्यंत प्रसन्न हूँ

व्यक्ति की प्रकृति में आनुवंशिकता और वातावरण का भी प्रभाव देखा गया है कि जो माता-पिता ईमानदार होते हैं, उनके बच्चे संस्कारी होते हैं। एक बच्चा अपनी माता की आज्ञा पाकर एक भीख मांगने गया। उसने अनेक लोगों के सामने हाथ पसारा, कुछ नहीं मिला। इसके बावजूद वह निराश नहीं हुआ। आखिर एक व्यक्ति को दया आ गई। उसने अपनी जेब टटोली तो उसमें दो रुपया मिले। उसने वह दो का नोट बालक को देना चाहा। पर बच्चे ने हाथ ठुकराकर करते हुए कहा कि 'मुझे तो एक रुपया की ही जरूरत है।' उसने वह नोट बच्चे के हाथ में देते हुए कहा कि 'तुम अभी यह नोट लेकर एक रुपया काम में लेकर एक मुझे वापस कर देना।' लड़का अपने घर के पास दो रुपयों का नोट देखकर माता ने डांटा। बच्चे ने माता को नोट वापस देना है। तुम एक रुपया रखकर एक मुझे दे दो। वापस कर आता हूँ।'

लड़का एक रुपया लेकर उस स्थान पर गया। लेकिन वह व्यक्ति नहीं मिला। क्योंकि उसने यह समझकर ही दो का नोट दिया था कि अब यह नोट मिलेगा। फिर उसे इस युग में ऐसे ईमानदार व्यक्ति की आशा भी नहीं थी। इस स्थिति में वह अपने गंतव्य की ओर चला गया। उसको अपने घर की स्थिति में बच्चे का चेहरा उतर गया और वह अपने घर के पास गया। उसके हाथ में रुपया देखकर माता ने उसको डांटते हुए कहा कि 'तुमारे घर की यह पद्धति नहीं है कि बिना आवश्यकता किसी के नोट को वापस जाएं। जाओ, उसे खोजकर रुपया लौटा आओ।'

लड़का अपनी प्रामाणिकता की सुरक्षा के लिए वह बच्चा एक वर्ष तक निरंतर रुपया मांगने की खोज करता रहा। पर वह नहीं मिला। दूसरे वर्ष उसी व्यक्ति के घर के मेले में वह व्यक्ति आया। बच्चे ने तत्काल उसे पहचान लिया। उसने कहा कि 'आपके पास गया और बोला कि 'लो आपका रुपया।' उस व्यक्ति ने धन्यवाद देकर पूछा कि 'कौन-सा रुपया?' बच्चे ने कहा कि 'गत वर्ष आपसे एक रुपया मांगा था। इस पर आपने मुझे दो रुपये का नोट दिया और एक रुपया वापस लाने के लिए कहा था। पर मैं जब यहां आया तो आप मुझे मिले नहीं। उस दिन से आज तक मैं बराबर आपको रुपया मांग रहा हूँ। मेरी मां ने मुझसे कहा कि जब तक अपना वादा पूरा नहीं करता तो मैं इस घर में चैन से नहीं बैठ सकोगे। आज मैं अपना वादा पूरा करने के लिए प्रसन्न हो रहा हूँ।'

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

उस बच्चे में प्रामाणिकता की जीवंत तस्वीर देखकर वह व्यक्ति प्रसन्न हुआ। उसे ऐसी कल्पना ही नहीं थी कि कोई बच्चा आत्म-संयम का इतना पक्का हो सकता है। उसने वह रूपया उसी को देकर पर उस बच्चे ने उसे स्वीकार नहीं किया।

नैतिकता के ये संस्कार उसे बच्चे को अपनी माता से सीखने की यह तीव्र भावना थी कि मेरा बच्चा सदा ईमानदार रहे। उसकी आस्था थी कि मुझे कष्ट सहना मंजूर है, पर ईमानदारी को गिरवना मंजूर नहीं। प्रामाणिकता के प्रति ऐसी अटूट और अटल प्रतिबद्धता ऐसे संस्कारों का संप्रेषण कर सकती है।

गुस्सा भी सीखना नहीं पड़ता। अनेक व्यक्तियों के जीवन में सहज संस्कारजन्य होता है। गुस्सा विष है, इसलिए उससे बचना ही हितकर है, श्रेयस्कर है।

अमृत पीने के बाद विष का प्रभाव नहीं होता। इस दृष्टि से अमृत पीना चाहता है। क्रोध-रूप विष को प्रभावहीन करने के लिए है। अहिंसाहृदय। जिस व्यक्ति के यह आत्मगत हो जाती है, कभी क्रोध नहीं करता।

अभिमान मनुष्य का शत्रु है। जो व्यक्ति अभिमान को पीने का है, वह अपने शत्रु को शक्तिशाली बनाता है। अभिमान व्यक्ति को अज्ञान में डुबो देता है, जबकि अप्रमाद उसे पार पहुंचा देता है। इसीलिए उसका सच्चा मित्र है। इसी प्रकार माया और लोभ को भय एवं अज्ञान का कारण माना गया है। जो व्यक्ति सुख, शांति एवं आनंद का सच्चा तथा मनुष्य जन्म को सफल बनाना चाहता है, उसे अपकारक दूर रहकर उपकारक गुणों की शरण स्वीकार करनी चाहिए।

नई दिल्ली

११ अक्टूबर १९६५

अमृत क्या है? जहर क्या है?

२३ : गौण को मुख्य न मानें

संसार का प्रत्येक प्राणी कर्मों से बंधा हुआ है। ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जिसका कठिन ही नहीं, बल्कि असंभव भी है, जो सर्वथा कर्मों से मुक्त हो सके। दूसरे शब्दों में संसार तभी तक है, जब तक कर्म-बंधन है। अतः, जिस क्षण कर्म-बंधन सर्वथा समाप्त हो जाता है, उसी दिन, प्राणी संसार से भी मुक्ति हो जाती है।

कर्म के कारण

कर्मों का प्रश्न पैदा होता है कि कर्म-बंधन क्यों होता है। प्रश्न समझने के लिए यह सुनिश्चित है कि कर्म-बंधन है तो उसके कुछ कारण भी हैं, जो कर्मों के बिना कभी कार्य नहीं होता। हम देखते हैं, स्वच्छता-विचार दिनों में मलिन हो जाते हैं। बिजलीघर के पास, जहां धूल-धुआं निकलता रहता है, बहुत शीघ्र मलिन हो जाते हैं। नहाया-धोया-परीर भी कुछ समय पश्चात मलिन हो जाता है। यात्रा के समय चेहरे तक श्यामवर्ण हो जाते हैं। कारण स्पष्ट है। कपड़ों पर, धूल, चेहरों पर रजें आकर चिपक जाती हैं। हमारी आत्मा मूलतः स्वच्छ है। लेकिन जब उस पर कर्म रूपी रजें लग जाती हैं, तब मलिन बन जाती है। स्थानांग में पांच ऐसे कारण बताए गए हैं, जो प्राणी कर्मों का संग्रहण करता है—१. प्राणातिपात २. मृषावाद ३. अनादान ४. मैथुन ५. परिग्रह।

उक्त पांचों कारण जब तक मौजूद रहते हैं, प्राणी कर्मरजों का संग्रहण करता है। रजों से आत्मा रंजित होती है। जब ये पांचों कारण समाप्त हो जाते, तब आत्मा के रंजित होने का क्रम भी बंद हो जाता है। अतः, अत-विरति आदि रजों के आदान के प्रतिपक्षी कारण हैं। इनकी समाप्ति में कर्मों का आदान नहीं हो सकता।

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

कौन मुक्त रह सकता है कर्म-संग्रहण से?

यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि कर्म-रजों के अभाव में कौन बच सकता है। साधु-साध्वियां चूंकि प्राणातिपात-विरम-प्रतिपक्षी पांचों कारणों से मुक्त होते हैं, इसलिए वे कर्म-रजों के अभाव से मुक्त रहते हैं। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि गृहस्थ बच सकते। गृहस्थ भी जिस सीमा तक प्राणातिपात, मृषावाद बचते हैं, उस सीमा तक वे भी इस कर्म-संग्रहण से बच सकते। वस्तुतः कर्म-रजों का बचाव और उनका विसर्जन दोनों बातें सापेक्ष हैं। साधना चाहे साधु करे या गृहस्थ, वह दोनों के लिए समान रूप से लाभप्रद है। बात इतनी-सी ही है कि कौन कितनी साधना करेगा है। साधु-साधवियों का तो संपूर्ण जीवन ही प्राणातिपात-विरम-प्रतिपक्षी पांच महाव्रतों की साधना को समर्पित होता है, इसलिए वे पूर्णतया लाभान्वित होते हैं। गृहस्थ महाव्रती नहीं हो सकते, अर्थात् वे बच सकते हैं। यानी वे इन पांचों की एक सीमा तक ही साधना कर सकते हैं। इसलिए वे एक सीमा तक ही लाभान्वित होते हैं।

शाश्वत सत्य का मूल्य

कल रात्रिकालीन प्रवचन में मैंने प्रासंगिक तौर पर एक प्रश्न पूछा था कि साधु हो या गृहस्थ, शाश्वत सत्य सबको स्वीकार करना ही उसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। योजना आयोग के अध्यक्ष श्री अशोक मेहता ने भी अभी-अभी कहा है 'शाश्वत सत्य को स्वीकार किए बिना हम चल नहीं सकते।' हम इस बात को समझें कि शाश्वत सत्य ही एक शाश्वत सत्य है। इस सत्य को सभी को स्वीकार करना ही उचित मूल्यांकन करना चाहिए।

परपीड़न न करना : एक शाश्वत सत्य

जीवन के प्रति प्राणी के मन में लगाव होता है। दुःख किसी को काम्य नहीं कर सकता। हर प्राणी सुखेच्छु होता है। दुःख किसी को काम्य नहीं कर सकता। सुखवैषण्य भी एक शाश्वत सत्य है। इस संदर्भ में हर व्यक्ति को चिंतन होना चाहिए कि जब मुझे दुःख अप्रिय है तो वह दूसरे को दुःख कैसे होगा। अतः मैं किसी को दुःख न दूं। क्रिया की प्रतिबिम्बिता है। दुःख मिलता है। यदि वह स्वयं दुःख नहीं चाहता तो उसे परपीड़न से बचना होगा। तात्पर्य यह कि परपीड़न न करना ही शाश्वत सत्य है।

गौण को मुख्य न मानें

ह एक निर्विवाद और शाश्वत सत्य है, सिद्धांत है।

देखते हैं कि विवेकसंपन्न व्यक्ति अपनी शांति के लिए औरों
भंग करना नहीं चाहते; अपने सुख के लिए दूसरे का सुख
ही चाहते। इससे भी आगे पशु भी सामान्यतः निरपराध व्यक्ति
नहीं करते। हां, पागल कुत्ते अवश्य किसी को काट खाते हैं।
कुछ पागल मनुष्य, संगठन और राष्ट्र भी होते हैं, जो दूसरों की
करने से बाज नहीं आते। बड़े आश्चर्य की तो बात यह है कि
ने में उन्हें कुछ प्राप्त भी नहीं होता। पर उनकी प्रकृति कहा
धंधा कहा जाए कि उनसे शांति से बैठा नहीं जाता।
थ्यति में उनका प्रतिकार करने के लिए सैन्य बल की सृष्टि
खतरनाक शस्त्रों का निर्माण होता है।

ज अणुशस्त्र-सज्जित राष्ट्र विघातक शस्त्रों से संपन्न होने का
ते हैं। प्रयोग की धमकी देते हैं। पर झटपट प्रयोग नहीं करते,
वे जानते हैं कि यदि हमने इनका उपयोग किया तो प्रत्युत्तर
हां, परीक्षण अवश्य करते हैं और वह भी आकाश या समुद्र
पर नहीं। इस माध्यम से वे दिखलाते हैं कि हमारे पास इतनी
शक्ति है, ताकि झटपट कोई हमारे पर आक्रमण करने की
करे।

भूत बात यह है कि जहां तक बन सके, युद्ध को टालने की
की जाती है और यह उचित ही है। युद्ध या हिंसा किसी भी
का स्थायी समाधान नहीं है, बल्कि इससे तो समस्याएं और
दृढ़ती हैं। समाधान अहिंसा ही है। किसी परिस्थिति में कोई युद्ध
है तो तत्काल चारों ओर से युद्धविराम और शांति की आवाजें
ती हैं।

स्त्रों में बताया गया है कि अतीत में जितने तीर्थंकर हुए हैं और
में जितने होंगे, उन सबने एक ही सिद्धांत प्रतिपादित किया
पाणा न हंतव्वाहसंसार का कोई भी प्राणी वध्य नहीं है।
में कहूं तो सभी तीर्थंकरों ने अहिंसा-धर्म का उपदेश दिया है।
र्थंकरों ने ही क्यों, सभी धर्म-प्रवर्तकों ने अहिंसा को सर्वोच्च
क रूप में स्वीकार किया है।

और धर्म

के क्षेत्र में जैन-तीर्थंकरों का दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट रहा है।

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

उन्होंने कहा कि स्वर्ग के प्रलोभन से धर्म करना श्रेयस्कर प्रलोभन से किया गया धर्माचरण पूर्णतः फलदायी नहीं होता। हूं कि छोटी-छोटी उम्र के अनेक भाई-बहिनें अठाई (आठ तपस्या) करते हैं। पर लगता है, कहीं-कहीं इस तपस्या के परिणाम निर्जरण की अपेक्षा नाम, यश, प्रतिष्ठा, उत्सव की भावना ज्यादा है। इससे तपस्या का लाभ कम हो जाता है। भगवान म कहाहअप्येण मा बहु विलुम्पहाहथोडे के लिए बहुत का न करो। यही बात शब्दांतर से महाकवि कालिदास ने कही है हेतो बहु हातुमिच्छन्। इस दिशा में विवेक जागना अपेक्षित

गौण फल : मुख्य फल

यहां एक बात समझ लेने की है। धर्म का मूल फल आत्म और जहां आत्मोदय होता है, वहां व्यक्ति को भौतिक लाभ होते हैं। नाम, यश, कीर्ति, श्लाघा, प्रतिष्ठा आदि भी मिलते हैं। मिल सकता है। पर ये सारे गौण फल हैं। जिस प्रकार अनाज तूड़ी भी होती है, उसी प्रकार इन्हें भी समझना चाहिए। कोई समझदार किसान तूड़ी के लिए कभी खेती नहीं करता। खेती व के लिए ही करता है। हालांकि तूड़ी का लाभ भी उसे मिलता है। गौण बात है। धर्म के क्षेत्र में भी यह दृष्टि स्पष्ट रहनी चाहिए। कोई भी क्रिया व्यक्ति एकमात्र आत्म-निर्मलताहआत्मोदय के लिए आत्मोदय के साथ अन्यान्य लाभ मिलते हैं तो मिलें, पर व आकांक्षा न करे, धर्माचरण उनके लिए न करे। जहां यह दृष्टि होती, वहां व्यक्ति गौण को मुख्य बनाने की भूल कर बैठता है। के परिणामस्वरूप व्यक्ति की वही स्थिति बनती है, जो ती पत्नियों की बनी थी।

सेठ के चार पत्नियां थीं। सेठ व्यापारार्थ दूसरे प्रदेश में था। पीछे से चारों पत्नियों को सेठ की याद सताने लगी। प्रत्ये को अलग-अलग पत्र लिखा।

कुछ दिनों पश्चात सेठ अपने घर लौटा। चारों पत्नियों प्रसन्नता हुई। चारों ने सेठ का खूब स्वागत किया। सायं सेठ पत्नियों को पास बिठाकर अपना सामान खोला। सबसे बड़ी उसने हीरों का हार दिया। उससे छोटी को कर्णफूल की ज अनुक्रम से तीसरी को नूपुर मिले और शेष ढेर-सा सामान उस

गौण को मुख्य न मानें—

छोटी पत्नी के सुपुर्द कर दिया।

उसके इस व्यवहार को देख तीनों बड़ी पत्नियों के मन को बहुत दुःख हुआ। मन के भाव चेहरों पर उतर आए। सेठ उनके बदले हुए चेहरे पर पढ़ रहा था। उसने पूछाह 'क्या बात है?' प्रश्न के साथ ही सेठ के साथ फूट पड़ीह 'हम यह अन्याय सहन नहीं कर सकतीं।' सेठ ने कहा 'मैंने कोई अन्याय नहीं किया है। कोई पक्षपात नहीं किया है। मैंने जो चाहा, उसे वही मिला है।' सबसे बड़ी पत्नी से कहाह 'तुमने जो हार लाने के लिए लिखा था, सो तुम्हें हार मिल गया।' छोटी पत्नी से बोलाह 'तुमने कर्णफूल मंगवाए थे, वे तुम्हें प्राप्त हो गए। दूसरे नंबर की पत्नी को संबोधित कर बोलाह 'तुम्हारी चाह नूपुरों की तरह वह चाह तुम्हारी पूरी हो गई।' एक क्षण के लिए वह सबसे बड़ी पत्नी के अभिमुख हुआ और पुनः बड़ी पत्नियों की ओर देखता हुआ बोलाह 'इसने और कुछ नहीं चाहा, केवल मुझे चाहा। मुझे जो चाहा, उसे मैं मिल गया। और जहां मैं हूँ, वहां तुम भी सामान रहेगा ही।' यों कह उसने चारों पत्नियों द्वारा प्रेषित पत्र निकालकर सामने रख दिया और बोलाह 'नाराज होने की जगह नहीं है, अपना-अपना पत्र संभालो।'

तीनों पत्नियों के लिए अब बोलने के लिए कुछ भी नहीं था।

ओ! यह एक कहानी है। इसके मर्म को आप समझें। तीनों पत्नियों ने एक-एक आभूषण चाहकर सेठ को गौण कर दिया, वे सेठ के ढेर-से सामान से वंचित रह गईं। सबसे छोटी पत्नी को ही चाहा और किसी चीज की चाह नहीं की, इसलिए उसे सर्वस्व मिल गया। इसी प्रकार जो लोग धर्म के मूल मर्म-निर्मलता को गौण कर उसके आनुषंगिक या गौण फल की चिन्ता करते हैं, वे बहुत घाटे का सौदा करते हैं। इसके विपरीत जो लोग धर्म के लिए धर्माचरण करते हैं, वे शाश्वत सुख और शांति को प्राप्त करते हैं। भौतिक सुख-सुविधा, नाम, यश, श्लाघा, कीर्ति, सम्मान, इत्यादि रूप में गौण फल बिना चाहे ही उसके साथ सहज रूप से प्राप्त होता जाता है। आप लोग भी आत्मोदय के लिए धर्म का आचरण अपना जीवन शाश्वत सुख और शांति से भर जाएगा।

ती

दूबर १९६५

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

२४ : सदेह भी विदेह होते हैं

संसार का प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह संयमी हो या भोजन, पानी, वस्त्र आदि वस्तुएं स्वीकार करता है। इसका हैहिसकी सदेहावस्था। शरीर इन सबके बिना चल नहीं सकता। दिन वह विदेहावस्था को प्राप्त हो जाता है, फिर इन सब की कोई अपेक्षा नहीं रहती। विदेहावस्था शुद्धात्मा की होती है। शरीर उसे हम सिद्ध कहते हैं। इस अवस्था में भूख-प्यास की अनुभूति होती। सर्दी-गर्मी का कोई प्रभाव नहीं होता। आचारांग सिद्धावस्था का चित्रण करते हुए कहा गया हैहिसदे अरुण अरसे अफासे। इसका अर्थ हैहिसिद्धावस्था न शब्दात्मक रूपात्मक है, न गंधात्मक है न रसात्मक है और न स्पर्शात्मक उस अवस्था का स्वरूप क्या है? एक वाक्य में कहूं तो वह एतदसत्ता है। उस अरूपी सत्ता को कैसे समझा जाए? रूपी समझने के लिए तर्क का सहारा लिया जा सकता है। जैसेहिसिद्धावस्था धुआं है। पर अरूपी सत्ता को समझने के लिए कोई भी तर्क अक्षम काम नहीं आता। बुद्धि भी उसे समझने में अक्षम है। उसे तो मूर्खता के आधार पर जाना/समझा जा सकता है। सिद्धावस्था के अर्थ श्रद्धा के आधार पर ही स्वीकार करना होता है।

पूछा जा सकता है कि सिद्धहपरमात्मा के अस्तित्व को न सिद्ध किया जाए तो क्या हानि है। इसका समाधान बहुत सीधा-सा है। की बात ही तब आती है, जब प्राप्ति हो। जो नास्तिक है, उसे प्राप्ति ही नहीं है। संपत्ति आई ही नहीं, तब उसकी हानि या नुकसान का प्रश्न ही बेमानी हो जाता है।

विदेह का दूसरा स्वरूप

लोक की समस्त आत्माओं को हम सदेह और विदेहहिसिद्धावस्था में विभक्त कर सकते हैं। देह-मुक्ति के बाद विदेह होने की बजाय सदेह भी विदेह होते हैं

क है। पर कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो सदेह अवस्था में ही मर जाते हैं। नमि राजर्षि का उदाहरण हमारे सामने है। वे विदेह बने थे। ऐसा क्यों? इसका कारण यह है कि शरीर से उनका संबंध था। आसक्ति मिट गई थी। भगवान महावीर को हम पढ़ते हैं। शरीर को त्याग करने के पश्चात वे विदेह बन गए थे। बारह वर्षों के अज्ञान में उन्होंने अपने शरीर का व्युत्सर्ग कर दिया था। यानी उस अवधि में शरीर की सार-संभाल छोड़ दी थी। बंधुओ! शरीर से बंधे होकर भी उसके प्रति आसक्ति/ममत्व को छोड़ना असामान्य बात नहीं है। असामान्य बात है। बहुत कठिन है। पर जो साधक को साध लेते हैं, उनके लिए कुछ भी कठिन नहीं होता। जीवन-मृत्यु और वीतरागहृदये सब एक ही अभिधेय के द्योतक हैं। विदेहावस्था जितनी कठिन है, उतनी ही मूल्यावान है। या शारीरिक आसक्ति जहां अशांति का कारण है, वहीं यह शांति का सर्जक है। प्रत्येक व्यक्ति शांति की चाह करता है, परंतु उसकी प्राप्ति के अनुकूल पुरुषार्थ नहीं करता, उसकी यह शक्ति भी भूत नहीं हो सकती। जो व्यक्ति देहासक्ति या देहाध्यास से मुक्त होता है, उस सीमा तक उसकी शांति की चाह होती है। मैं मानता हूँ, सचमुच वह व्यक्ति अत्यंत सौभाग्यशाली है जो देहाध्यास से सर्वथा मुक्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति का शांति से ओतप्रोत होता है।

बुधुओ! हम साधु लोग भी विदेह बनने के लिए कृतसंकल्प हैं। साधना उसी के लिए है। अभी हम अपूर्ण हैं, इसलिए पूरी शांति प्राप्त नहीं हुई है। जिस दिन हमारी साधना पूर्णता की सीमा तक पहुंच जाएगी, उस दिन हम भी विदेहावस्था को उपलब्ध कर पाएंगे।

एक ही मेरे पास नीदरलैंड की एक बहिन आई। वार्तालाप के दौरान उन्होंने पूछा 'अहंकार और ममकार छूटने का क्या उपाय है?' मैंने उन्हें बताया कि देते हुए कहा 'अहंकार और ममकार के लिए शास्त्रीय शब्द अहंकार और लोभ। हालांकि इनको यकायक छोड़ा जाना कठिन है, परंतु समता की साधना के द्वारा इनसे मुक्ति पाई जा सकती है।'

मैंने उन्हें बताया कि समता की बात संसार के सभी महापुरुष कहते हैं। परमहंस, भगवान महावीर और गौतम बुद्ध ने अपने-अपने ढंग

—जगो ! निद्रा त्यागो !!

से और अपनी-अपनी शब्दावलि में समता का उपदेश दिया। वही उपदेश दे रहे हैं। पर समता की साधना सरल कहां है?’

मैंने कहाह‘यह ठीक है कि समता की साधना सरल नहीं है। इसी के समानांतर यह भी एक सचाई है कि कठिन कार्य भी सरल हो जाता है। सामान्यतः लोग कठिन कार्य को कठिन छोड़ देते हैं। उसको करने का प्रयत्न ही नहीं करते। यही स बाधा है। यदि संकल्प मजबूत हो तथा उसका अभ्यास व प्रयत्न रहे तो कठिन कार्य भी किया जा सकता है। एवरेस्ट चोटी कितनी कठिन है! पर मजबूत संकल्प, अभ्यास और प्रयत्न के भी लोग पहुंच गए। संग्राम के मोर्चे पर जाकर खड़ा होना बहुत है। पर बनानेवाले उसे भी सहज बना लेते हैं। हम भी संकल्प के साथ समता का अभ्यास और साधना करें तो एक सहज हो सकती है।’

इस बार बहिन बोलीह‘आचार्यजी! मैं आपसे एक व्यक्ति करना चाहती हूं। क्या आप अहंकार-विसर्जन में सफल हो गए

मैंने उत्तर दियाह‘अंहाकर-विसर्जन में मुझे पूर्ण सफलता है, ऐसा तो मैं नहीं मानता। हां, इस दिशा में मैंने काफी प्रयत्न और एक सीमा तक सफलता भी मिली है, मिल रही है। हम मान्यता के अनुसार नवें गुणस्थान से पहले अहंकार का संपूर्ण नहीं हो सकता। हमारी साधना अभी छठे-सातवें गुणस्थान में है। ऐसी स्थिति में संपूर्णता की दिशा में प्रयत्न ही किया जा स संपूर्णता साधना की ऊपरी भूमिका में पहुंचने के बाद ही सकेगी।’ अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए मैंने आगे कहाह‘साधु लोग अभिमान करें ही किस बात का? हमारे पास अभिमान के लिए है ही क्या? रोटी-जैसी सामान्य-से-सामान्य वस्तु के हाथ फैलाना पड़ता है। नाकुछ पानी भी मांग कर लाना होता नंगे पैर चलते हैं। पास में एक नया पैसा नहीं। चार अंगुल जम फिर कैसा अभिमान? आधा अभिमान तो साधु बनते-बनते ही हो जाता है। फिर साधु जीवन में सम्मान के साथ तिरस्कार पड़ता है। सारा अहंकार चूर-चूर होने की स्थिति बनती है। पहले की ही बात है। हम कहीं जा रहे थे। मार्ग में जाने पर लगा दिया गया। कारण पूछा गया तो बताया गया कि यह अ संदेह भी विदेह भी हैं

आपको जाने देंगे तो दूसरों को नहीं रोक सकते। तब हम दूसरे होकर गंतव्य तक पहुंचें। आप देखें, एक ओर एक आचार्य की लेने के लिए हजारों-हजारों लोग लालायित और तत्पर रहते दूसरी ओर एक सामान्य-सा आदमीहचौकीदार भी उन्हें रोक । ऐसी स्थितियों में अभिमान टिकेगा किस आधार पर?’

ओ! आप भी समझें इस तथ्य को। हम साधु लोगों की ही कुछ ऐसी है कि उसमें अहंकार को टिकने के लिए बहुत प्रयत्न करते हैं। फिर साधना के प्रयोगों से हम सतत अहंकार-विसर्जन की प्रयत्न करते हैं। मेरी दृष्टि में अहंकार-विसर्जन विदेहावस्था है। ममकार-विसर्जन भी विदेहावस्था है। वह दिन हमारे लिए आ, जिस दिन हम सर्वथा विदेह बन जाएंगे।

मी

दूबर १९६५

जागो ! निद्रा त्यागो !!

२५ : साधना में अवरोध

हम साधक हैं। साधक का धन हैह्यसाधना। इसलिए साधनाधन कहा जाता है। साधक का काम है कि वह जागरूक सतत साधना-पथ पर चलता रहे। इसी में उसके जीवन की सफलता जहां जागरूकता में कमी होती है, वहां साधना में उपघात स्थानांग सूत्र में पांच उपघात बताए गए हैंह्य१ उपघात २. उत्पादन उपघात ३. एषणा उपघात ४. परिकर्म उपघात ५. परिहरण उपघात।

उद्गम उपघात

शरीर की सबसे पहली आवश्यकता हैह्यभोजन-पानी साध्वियां भी शरीरधारी होते हैं, इसलिए उन्हें भी भोजन-पानी रखना है। पर वे स्वयं भोजन-पानी तैयार नहीं करते, भिक्षा के माध्यम से अपनी आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। पर भिक्षा से भोजन-पानी लेते समय तीन प्रकार के दोषों का वर्जन करना जरूरी है। उन दोषों को हैह्यउद्गम। उद्गम का अर्थ हैह्यउत्पत्ति। भोजन-पानी के लेने में जो दोष पैदा होते हैं, उन्हें उद्गम दोष कहते हैं। अपने और अतिथियों के लिए लोग भोजन तैयार करते हैं। पर साधु-किसी के रिश्तेदार और अतिथि नहीं होते। ऐसी हालत में उनको खाने-पीने की चीजें बनाकर देने की विधि नहीं है। उनके लिए खाने-पीने के लिए निष्पन्न भोजन-पानी में से संविभाग किया जाता है। यदि साधु-साधवियों के लिए संविभाग करने के स्थान पर भोजन तैयार होता है तो वह उद्गम दोष है। इसी प्रकार बाजार से खाना देना, उधार लेकर देना, अंधकार में प्रकाश करके देना आदि उद्गम दोष हैं। शास्त्रों में सोलह प्रकार के उद्गम दोषों का वर्णन है। साधु इन सोलह दोषों का वर्जन करके भिक्षा ग्रहण करते हैं। जहां उद्गम दोषों का वर्जन नहीं किया जाता, वहां उद्गम उपघात होता है।

साधना में अवरोध

उपघात

जन मूलतः सदोष नहीं है। यानी उसकी उत्पत्ति में कोई अविधि है। पर लेते समय यदि अविधि होती है तो वह उत्पादन दोष है। उद्गम दोषों की तरह उत्पादन दोष भी सोलह हैं। दाता की तरह बच्चों को खिलाकर भिक्षा लेना, दूत की तरह इधर-उधर पहुंचाकर भिक्षा लेना। इसी क्रम में अपनी जाति बताकर, अहंकर करके, गर्भपात का उपाय बतलाकर, भौतिक मंत्र सिखाकर, कपट करके, अहंकर करके, कपट करके..... भिक्षा ग्रहण करना उत्पादन दोष हैं। जागरूक साधक इन सब दोषों का वर्जन करता हुआ भिक्षा ग्रहण करता है। जहां इन दोषों का सेवन होता है, वहां उत्पादन दोष होता है।

उपघात

भिक्षा का तीसरा दोष हैहृषणा दोष। भोजन-पानी उद्गम और दाता की दृष्टि से निर्दोष है, परंतु साधु यदि उसकी शुद्धि-अशुद्धि की जांच नहीं करता है तो एषणा दोष होता है। 'ज्यादा छानबीन नहीं करके कहीं कोई अशुद्धि निकल गई तो मैं भिक्षा ग्रहण नहीं करूँ' और ऐसी स्थिति में मुझे भूखा रहना पड़ेगा'हृऐसा सोचकर यदि भोजन-पानी और दाता की शुद्धि-अशुद्धि की पूरी जांच-पड़ताल नहीं की तो वह एषणा दोष का सेवन करता है। आगम-साहित्य में दस एषणा दोष वर्णित हैं। एषणा दोषों का सेवन करने से एषणा दोष होता है।

उपघात

साधु के निश्चित जो मकान है, वस्त्र-पात्र आदि उपकरण हैं, उन्हें अपने में यदि विधि का अतिक्रमण होता है तो परिकर्म उपघात होता है। उदाहरणार्थहृजिस मकान में साधु रहते हैं, वह ठीक नहीं है तो कोई साधु उसे लीपना शुरू कर दे या गृहस्थों से लिपवाए। इसी प्रकार दाता और कपड़ों की सिलाई में विहित विधि का उल्लंघन करने से उपघात होता है।

उपघात

जैसे भी प्रकार के परिभोग के समय शास्त्रीय विधि-विधान और अतिक्रमण करना परिहरण दोष है। जैसेहृसामान्य स्थिति में

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात उस क्षेत्र में रहने का विधान शेषकाल में किसी भी क्षेत्र में एक मास व्यतीत हो जाने के बाद रहना अथवा दो मास अन्यत्र रहे बिना पुनः उसी क्षेत्र में आना अविहित है। इसी प्रकार जिस क्षेत्र में चातुर्मास व्यतीत किया पुनः दो साल से पूर्व चातुर्मास करना विहित नहीं है। इन सब का अतिक्रमण करना परिहरण दोष है। परिहरण दोषों का सेवन परिहरण उपघात होता है।

उपघात के इन पांचों प्रकारों से बचना साधक के लिए जरूरी है। जो साधक अपने लक्ष्य और साधना के प्रति जागरूक है, वह इनका परिहार करता हुआ आगे बढ़ता है।

नई दिल्ली

१४ अक्टूबर १९६५

साधना में अवरोध

: जीव दुर्लभबोधि क्यों बनता है? (१)

5 दुर्लभ है

सारी प्राणियों के लिए बहुत-सी चीजें दुर्लभ होती हैं। कुछ को पेट-भर अन्न भी नहीं मिलता। इसीलिए तो राष्ट्र के नेता कि सप्ताह में एक दिन उपवास रखो। करोड़ों व्यक्तियों के रखने से खाद्य समस्या का थोड़ा हल निकल जाएगा। उनका यह अन्न-शुद्धि के लिए नहीं, बल्कि कमी की पूर्ति करने के लिए है। पानी-कहीं पानी भी दुर्लभ है। कल ही हमने समाचार-पत्र में पढ़ा कि कश्मीर में पानी का राशन होनेवाला है। इतने दिन अनाज का राशन भी नहीं मिलता। अब पानी के लिए भी ऐसी व्यवस्था सोची जा रही है, कि उस क्षेत्र में वह दुर्लभ है।

दिल्ली-जैसे बड़े-बड़े शहरों में स्थान दुर्लभ है। कोई यहां (दिल्ली) में जगह चाहे तो सुविधा से दस-पन्द्रह मील में भी स्थान दुर्लभ है। जमीन के दो सौ-चार सौ रुपये तक लगते होंगे। इसका पहला कारण है हस्त-स्थान की कमी। दूसरा कारण है हस्त-स्थान की कमी। कोई जगह भी रहना चाहता है तो उसे कम पैसों में अच्छा स्थान मिलना सामान्य स्थान भी नहीं मिलता।

हमें अन्यान्य सभी सुविधाएं हैं, पर संतति दुर्लभ है। चूंकि अपनी संतति को अविच्छिन्न चलाने के लिए कम-से-कम एक पुत्र का प्राप्ति ही माना जाता है, इसलिए उसके लिए अनेक प्रयास किए जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों के पास जाकर याचना की जाती है। लेकिन यह प्रयास ही और अनादिकालीन मोह है। इसी कारण व्यक्ति अनुकूल संतति में भी सुख का अनुभव नहीं कर सकता।

युक्त सारी चीजें मिल जाने पर भी स्वास्थ्य दुर्लभ है। किसी व्यक्ति की शिकायत है। आंतों की रस-क्रिया ठीक नहीं है। किसी व्यक्ति का पूरा काम नहीं करता। इसी प्रकार किसी को अन्य कोई

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

बीमारी से जूझना पड़ता है। बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य सुधर सके, मुश्किल है। इसीलिए अनेक व्यक्ति स्वास्थ्य के लिए तड़पते रहते हैं।

शांति की चाह

स्वास्थ्य से भी शांति अधिक दुर्लभ है। मेरे पास बहुत सारे लोग हैं, जो शांति की चाहते हैं। उनमें से अनेक लोगों का एक प्रश्न रहता है कि शांति कैसे मिले। वे इसका समाधान पाने के लिए एकांत में समय मांगते हैं। जब यह प्रश्न सुनता हूँ तो कहता हूँ कि ऐसा प्रश्न एकांत में करना तो सबके बीच में करना चाहिए, क्योंकि यह मात्र तुम्हारा तो नहीं है, बल्कि लाखों-करोड़ों लोग इसका समाधान चाहते हैं।

आप ऐसा न समझें कि यह प्रश्न सामान्य स्तर के व्यक्ति का है। करोड़ों की संपत्तिवाले भी यही प्रश्न करते हैं। विपुल संपत्ति के बावजूद भी उनको शांति नहीं है। इससे एक बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि शांति का धन-वैभव के साथ गठबंधन नहीं है। वस्तुतः शांति का समाधान हमारी आत्मा से। मैं उन लोगों को शांति का रास्ता बताता हूँ कि शांति का रास्ता तो रास्ता ही होता है; कोई जादू तो नहीं कि तत्काल शांति मिल जाए। हां, जो लोग उस रास्ते पर चलते हैं, वे अवश्य एक दिन शांति आपको शांति के निकट पाते हैं।

बोधि परम दुर्लभ है

इन सब वस्तुओं से भी अधिक दुर्लभ है बौद्धबोधि। वस्तुतः **बौद्धबोधि: परम दुर्लभा** बौद्धबोधि परम दुर्लभ है। आप इस भ्रम में न पड़ें कि मैं कह रहा हूँ कि मात्र इस जन्म में दुर्लभ है। प्राप्ति का प्रयास नहीं करे, अगले जन्म में भी बोधि दुर्लभ है। फिर बहुत समझने की बात है कि जब इस जन्म में बोधि-प्राप्ति के लिए प्रयास नहीं होता है तो जीवन में उसकी प्राप्ति संभव नहीं है।

बोधि का अर्थ है ह्यसम्यक दृष्टि। सम्यक ज्ञान और सम्यक चरित्र भी इसके साथ हैं। तत्त्वतः दर्शन, ज्ञान और चरित्र की सम्यक प्राप्ति बोधि है। बोधि प्राप्त व्यक्ति उत्तरोत्तर आत्म-विकास करता है। सही भाषा में कहूँ तो अध्यात्म-विकास का सही मार्ग यही है। यहां तक कि वह कर सकता है कि फिर लोग बोधि को प्राप्त क्यों नहीं हो पाते? बोधि-लाभ चाहते नहीं, ऐसी बात नहीं है। मूलभूत बात यह है कि शांति पर भी उसमें बाधा आ जाती है। उसका परिहार हुए बिना बोधि प्राप्त नहीं मिल सकती। क्या आप जानते हैं कि बाधा क्या है? बोधि-प्राप्ति के लिए जीव दुर्लभबोधि क्यों बनता है? (१)

कर्मों का बंधन। यह बंधन व्यक्ति और बोधि के बीच एक लंबी दीवार खड़ी कर देता है। इसलिए उससे उसका मिलन नहीं

भी-कभी ऐसा भी होता है कि पदार्थ सामने दिखाई दे रहा है, व्यक्ति उसे ले नहीं सकता। कारण यह कि बीच में एक दीवार है। व्यक्ति के सामने जब तक मोहनीय कर्म की ऐसी खंदक है जिसे वह लांघ नहीं सकता, तब तक जानता हुआ भी वह निकट नहीं पहुंच सकता।

एक प्रश्न उठता है कि ऐसे कौन-कौन-से कारण हैं, जिनसे भ्रमबोधि बन जाता है। इस संदर्भ में स्थानांग सूत्र में पांच ऐसी बातें गई हैं, जिनके कारण जीव दुर्लभबोधि के निमित्त कर्मों का अकर्तव्य करता है। वे हैं १. अर्हतों का अवर्णवाद करता हुआ २. अर्हत-वर्णन का अवर्णवाद करता हुआ ३. आचार्य-उपाध्याय का अवर्णवाद करता हुआ ४. चतुर्वर्ण संघ का अवर्णवाद करता हुआ ५. तप-अभ्यास के विपाक से दिव्य गति को प्राप्त देवों का अवर्णवाद करता हुआ।

आचार्य का अवर्णवाद

व्यक्ति पूजा, प्रतिष्ठा और मान्यता के योग्य हैं, वे अर्हत हैं। वे या तीर्थंकर कहें, एक ही बात है। तीर्थंकर संसार में सर्वोत्कृष्ट हैं। सारा संसार उनके सामने झुकता है। वे जहां जाते हैं, वहां का विरोध खत्म हो जाता है, जघन्य कोटि के शत्रु भी मित्र हैं, सांप और नेवले साथ-साथ क्रीड़ा करने लगते हैं।..... एक श्रद्धालु की रचना की जाती है। वहां लाखों श्रोता व्याख्यान सुनने में व्यस्त हो जाती है।

जब उसका शतांश भी कहीं किया जाए तो वह आडंबर और प्रदर्शन माना जाता है। इस संदर्भ में एक बात समझने की है। कोई भी प्रदर्शन किया जाए, उसमें प्रदर्शन की भावना अनुचित है। पर प्रदर्शन की भावना मुक्त रहकर यदि व्यक्ति उसे कलात्मक ढंग से करे तो उसे प्रदर्शन कैसे कहा जा सकता है? हम देखते हैं कि एक ही काम दो ढंगों से किया जा सकता है। एक व्यक्ति उसे अच्छे ढंग से करता है और दूसरे के हाथों से वह बिगड़ जाता है। इसलिए कला की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

तीर्थकर चौतीस अतिशय और पैतीस वचनातिशय से युक्त धर्मनायक और धर्मप्रणेता होते हैं। सारे संसार को वे प्रकाश अर्हत, भगवंत, आदिकर, तीर्थकर, सहसंबुद्ध, पुरुषोत्तम, पुरुषवर पुंडरीक, पुरुषवर गंधहस्ती आदि उनके विभिन्न नामों अनेक विशेषताओं को अभिव्यक्ति मिलती है।

ऐसे तीर्थकरों के लिए यह कहना कि इनके पास ज्ञान न पाखंडी हैं, अज्ञान फैला रहे हैं, इन्हें प्रतिष्ठा की भूख है..... अव कोटि में आता है। ऐसा बोलनेवाला व्यक्ति दुर्लभबोधि के हेतुभूत बंधन करता है। गोशालक और जमालि दोनों भगवान महावीर थे। लेकिन भगवान से अलग होने के बाद वे कहने लगेह तीर्थकर महावीर नहीं। वे तो अज्ञानी हैं। उन्हें गलत जानकर ही हम है।.....' कुछ लोगों का प्रश्न हो सकता है कि लोग ऐसा क्यों इसका कारण हैहकर्मों का उदय। और ऐसा कर वे उदय में आए अधिक चिकने कर्मों का बंधन कर लेते हैं।

व्यक्ति को स्वयं की वृत्ति ही ऐसा बना लेनी चाहिए आलोचना नाम से ही ग्लानि हो जाए। ऐसा होने पर कर्म-बंधन बचाव हो सकता है।

अर्हत-प्रज्ञप्त धर्म का अवर्णवाद

धर्म आत्म-शुद्धि का एकमात्र साधन है। वह अर्हतों द्वारा है। पर किसी व्यक्ति को धर्म-साधना अच्छी लगती है और नहीं, यह अपनी-अपनी रुचि की बात है। धर्म-साधना इच्छा से इस विषय में किसी का दबाव नहीं चल सकता। लेकिन ढकोसला और आडंबर मानकर नास्तिकता का प्रचार करनेवाले त योग्य कर्मों का बंधन कर लेते हैं।

पर इस संदर्भ में एक बात अवश्य ध्यान देने योग्य है। मु है कि सामान्यतः धर्म को कोई बुरा नहीं मानता। होता यह है धर्म पर अधर्म का साम्राज्य हो जाता है, तब अधर्म को धर्म उसकी निंदा की जाती है। नास्तिक जिस धर्म को बुरा बताते हैं उसको हेय मानते हैं। अंतर इतना ही है कि वे उसे धर्म के बदनाम करते हैं और हम उसे अधर्म कह देते हैं। हिंसा, असत्य आदि बुरे तत्त्व हैं, ऐसा एक नास्तिक भी कहता है और हम भी बुराई को बुरा बताना बुरी बात नहीं है।

जीव दुर्लभबोधि क्यों बनता है? (१)

बहुत बार कहता हूँ कि धर्म को बुरा बतानेवाले मुझसे मिलें और नीलें पेश करें। मेरे अनुभवों के परिप्रेक्ष्य में आज तक ऐसा एक मुझे नहीं मिला, जो सही माने में धर्म की निंदा करता हो।

तुतः धर्म आत्मा की खुराक है। वह बुरा लग ही कैसे सकता को ज्वर में भोजन कड़वा लग सकता है, पर स्वस्थावस्था में नहीं लगता। उससे अरुचि नहीं होती। इसी प्रकार कर्मोदय के धर्म किसी को बुरा लग सकता है, पर वास्तव में उसकी झुठलाई नहीं जा सकती। अतः मानना होगा कि धर्म साधना है, करणीय है, आवश्यक है।

ऐसा नहीं होता तो दुःख के समय किसी को धर्म याद नहीं पति में जब-कभी कष्ट आता है, तब उसके लिए एकमात्र सहारा ता है। परंतु धर्म के तत्त्व को समझाना बहुत कठिन है। औरों की ही क्या, धार्मिक कहलानेवाले बहुत-से व्यक्ति भी धर्म को समझा । फलतः बहुत-से तरुण धर्म के विरोधी बन जाते हैं। विद्यार्थी नारे में जिज्ञासा करते हैं। उनके प्रश्न का उत्तर न देकर आक्रोश नुचित है। इसी प्रकार उनके सही तर्क का गलत समाधान देना नहीं है। जिज्ञासा को खुलने का अवकाश मिलना चाहिए। वह ननावृत होगी, उतना ही तत्त्व गम्य हो सकेगा।

का ढंग वैज्ञानिक हो

युग बीत चुका, जिसमें विचार-स्वातंत्र्य का अधिकार नहीं था। बदली हुई परिस्थितियों में किसी के विचारों को कुचल देना है। खुलकर चिंतन करने से व्यक्ति को स्वयं अपनी भूल महसूस है। मैंने एक ऐसे व्यक्ति को देखा है, जो न केवल स्वयं धर्म का रता था, अपितु दूसरों को भी धर्म से विमुख बना रहा था। मेरे आया, यद्यपि यह स्वयं तो धर्मोन्मुख नहीं हो सकता, तथापि शोधन संभव है, जिससे यह दूसरों को धर्मविमुख बनाने की कर दे। एक दिन वह मेरे पास आया और उसने बात करने के य मांगा। मैंने समय दे दिया। उसे बात करने के लिए समय दिए बात समाज के कुछ वरिष्ठ लोगों को उचित नहीं लगी। वे बात करने लगे। उसका आशय यह था कि आचार्यश्री किसे रहे हैं! यह व्यक्ति बात करने के योग्य ही नहीं है। मेरे तक भी पहुंची। मैंने कहाह'कोई अयोग्य भी हो तो मेरा क्या बिगाड़

—जगो ! निद्रा त्यागो !!

करेगा? समय बरबाद होगा, यह बात भी हम क्यों सोचें? सार्थकता भी तो हो सकती है। आप लोग मेरी चिंता न करें। समझकर ही ऐसा करने का निर्णय किया है।’

निर्धारित दिन वह व्यक्ति आया। मैंने काफी देर तक उससे की। पर बातचीत पूरी नहीं हुई। अतः अगले दो दिनों तक बात क्रम और जारी रहा। इसका परिणाम यह आया कि उसके द्वारा बिगाड़े जाने का रास्ता बंद हो गया। परिणाम देखकर अब कहाँ बहुत अच्छा हुआ। ऐसा होना ही चाहिए था।’ लेकिन का है कि शुरू में लोग घबरा जाते हैं। मेरा यह निश्चित अभिमान सामनेवाला व्यक्ति भले कैसा भी क्यों न हो, व्यक्ति स्वयं यदि है तो उसका कोई कुछ नुकसान नहीं कर सकता।

यदि उन्मार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति से बात करेंगे ही नहीं, सन्मार्ग पर लाने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। हां, हम ऐसे तरीके खोजें, जिनसे भटके लोगों को सरलतापूर्वक सही दिशा सके। आजकल के विद्यार्थी रूढ़ता से नाराज हो जाते हैं। उन्हें ढंग से समझाया जाना चाहिए, क्योंकि जबरन धर्म हो नहीं सका धर्म और अधर्म दोनों मार्गों का विवेक मिलना चाहिए। इससे औचित्य का लंघन नहीं करेंगे। ऐसा न करने के स्थान पर क डालने का प्रयास हुआ तो वे धर्म से पराङ्मुख हो जाएंगे, अवर्णवाद बोलेंगे और दुर्लभबोधि बन जाएंगे।

नई दिल्ली

१५ अक्टूबर १९६५

जीव दुर्लभबोधि क्यों बनता है? (१)

: जीव दुर्लभबोधि क्यों बनता है? (२)

न के प्रवचन में मैंने दुर्लभबोधि होने के पांच कारणों में से प्रथम का विश्लेषण किया था। शेष तीन कारणों का विश्लेषण आज

उपाध्याय का अवर्णवाद

चार्य और उपाध्यायहृदयों के नाम प्रायः साथ-साथ आते हैं। संघ का नेतृत्व करते हैं। उसकी श्रीवृद्धि एवं विकास के लिए प्रयत्न करते हैं। उपाध्याय संघ को सभ्य तथा सुसंस्कृत बनाते हैं। बिना सभ्यता और संस्कृति का विकास नहीं होता, इसलिए वे इस दिशा में सतत प्रयत्नशील रहते हैं।

आचार्य-अपाध्याय का अवर्णवाद बोलनेवाले इस आशय की बात करते हैं—‘आचार्य बनने से क्या होता है? उम्र तो इतनी छोटी है और उम्र है। ये इसका संचालन कैसे कर सकेंगे?.....’

यह बात तो यह है कि संघ-संचालन की योग्यता का संबंध उम्र से है ही नहीं। अवस्था से कोई योग्य या अयोग्य नहीं बनता। उम्र कम होने पर भी जिसमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र की योग्यता है, संघ का संचालन कर सकता है। दसवेआलियं में बताया गया है—

जे यावि मंदि ति गुरुं विइत्ता,
डहरे इमे अप्पसुए ति नच्चा।
हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा,
करेंति आसायण ते गुरुणं॥

‘यह आचार्य मंद है, छोटा है, अल्पश्रुती है’—हऐसा कहकर आचार्य की हेतना करनेवाले मिथ्वात्वी हैं और वे गुरु की आशातना करते हैं।

यह प्रकार गुरु/आचार्य की आशातना करनेवाले, अवर्णवाद

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

बोलनेवाले दुर्लभबोधि बन जाते हैं।

ठीक यही बात उपाध्याय के संदर्भ में भी है। उनकी करनेवाले व उनके लिए तिरस्कारपूर्ण शब्द बोलनेवाले भी दुर्लभ हेतुभूत कर्मों का संचय कर लेते हैं।

चतुर्वर्ण संघ का अवर्णवाद

संघ का अवर्णवाद बोलनेवाले इस प्रकार की भाषा बोलते संघ है! यहां सब जड़-ही-जड़ इकट्ठे हो रहे हैं। जानते कुछ भी पशु-समूह की तरह अमार्ग को मार्ग बना लेते हैं। जैसेहहज जिधर चल पड़ती हैं, उधर ही मार्ग बना लेती हैं। इसी प्रकार अपना अलग रास्ता निकाल कर चल रहे हैं।.....' लेकिन संगठित संस्थान के बारे में ऐसा सोचना भूल है, क्योंकि समूह कोई संघ नहीं बनता। यदि समूह ही संघ हो तो शरीर की हड्डियों का भी एक संघ बन सकता है। पर वह संघ नहीं होता उनमें जड़ता है। चेतना के बिना एक समूह का संचालन कैसे

संघ क्या है?

वास्तव में संघ वह है, जिसमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य होती है। संघबद्ध धर्मसाधना का प्रवर्तन जैन-तीर्थकरों की बहुत देन है। दूसरे-दूसरे लोग जहां यह मानते हैं कि व्यक्ति साधना कर सकता है, वहां जैन-तीर्थकरों ने हमको व्यवस्थित संघ तीर्थकरों के लिए कैवल्य-प्राप्ति के बाद पहला और प्रमुख कार्य की स्थापना। उनके पहले उपदेश में ही साधु-साध्वियां और श्राविकाएं हो जाते हैं। इस चतुर्विध संघ को श्रमण-संघ भी कहा

भगवान के सामने प्रश्न आया कि संघ क्या है। इसके स भगवान ने कहा कि साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाहय हैं। ये चारों ही वर्ण आध्यात्मिक श्रम में विश्वास करते हैं। इनकी निष्ठा है। श्रमण-संस्कृति में इनकी आस्था है। त्याग-धर्म विश्वास है। अतः साधु-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं का रूप ही संघ और तीर्थ है।

संघ में लाखों व्यक्तियों को आत्मशुद्धि का लाभ मि सामायिक, पौषध, उपवास और उपासना से धर्म-मेघ छा विरही लोग धर्म का आलंबन लेकर विरह भूल जाते हैं। जि जीव दुर्लभबोधि क्यों बनता है? (२)

नहीं लगता, वे साधु बन जाते हैं। ऐसे संघ की निंदा
जीव दुर्लभबोधि के हेतुभूत कर्मों का बंधन करता है।

अवर्णवाद

छ लोग देवताओं का अवर्णवाद करते हैं। वे इस तरह की भाषा
देवता कहां हैं, सब व्यर्थ की बातें हैं। ढोंग और अंधविश्वास
में मानता हूं, ऐसा कहकर अश्रद्धा करना उचित नहीं है। कोई
संखों का विषय नहीं बनता, इसका अर्थ यह नहीं कि उसका
है ही नहीं। दिखाई नहीं देता, इसलिए वह तत्त्व नहीं है। यह
नहीं बन सकता।

स्त्रीय दृष्टि से देवताओं का अस्तित्व असंदिग्ध है। **सन्ति
तृकृतानुग्रहोपघात दर्शनात्**। यानी देवता हैं। वे तुष्ट होकर
सहयोगी बनते हैं और असंतुष्ट होकर उपघात कर देते हैं। बहुत
क को दिव्य शब्द सुनाई देते हैं। आभास होते हैं। प्रत्यक्ष दर्शन
वे सब वास्तविक होते हैं। अश्रद्धालु उन्हें कल्पना मानता है।
श्रद्धालु व्यक्ति उन्हें वास्तविकता मानकर चलता है।

अपने स्थान में अपना काम करते हैं। यह आवश्यक नहीं कि
का सहारा लें। आपको अपने पुरुषार्थ पर विश्वास होना
इसका अर्थ यह भी नहीं कि आप उनके अस्तित्व को नकार दें।
ता विलासी होते हैं और सुखी भी। इसका कारण है। उनके
का तीव्र उदय होता है, अतः विलास को छोड़ नहीं सकते।
साथ सातवेदनीय कर्म का उदय होता है। अतः भोग-
न्य सुख का अनुभव करते हैं। देवताओं के वर्गीकरण में कुछ
हैं, जो जघन्य विलास की कामना करते हैं और कुछ देवों का
भी उच्चस्तरीय होता है। वे अपने इष्ट के दर्शन, स्मरण और
त्र से संतुष्ट हो जाते हैं।

या विकृति ?

संगिक तौर पर एक बात स्पष्ट कर दूं। भोग महत्त्वपूर्ण नहीं है।
इसे बीमारी बताया गया है। खुजली होने पर खुजलाना पड़ता
प्रकार संभोग को जानना चाहिए। लोग संभोग को प्रकृति मानते
संसार जिस काम में लग जाता है, वह प्रकृति-सा बन जाता
वास्तव में यह प्रकृति नहीं है। भगवान ने इसे विकृति बताया है।

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

संसार में ऐसे व्यक्ति भी हैं, जो विकारों से सर्वथा अस्पृष्ट हैं।

विकार त्याज्य हैं, फिर भी पर लोगों को अच्छे लगते हैं। कारण है। नीम के पत्ते, नीमझर और निंबोली सब कड़वे होते हैं, जिसे सांप ने काट खाया है, उसे ये सब मीठे लगते हैं, क्योंकि जहर है। जहर का असर कम होते ही कड़वाहट स्वयं प्रगट हो जाती है। इसी प्रकार जिस प्राणी के भीतर मोह का जहर रहता है, उसे अच्छे लगते हैं। मोहकर्म की प्रबलता में भोगों से छुटकारा पाना मुश्किल है। यही बात देवों की भी है। पर कुछ देव ऐसे भी होते हैं जो मोहकर्म उपशांत हो जाता है। उनके मन में विकार आते ही नरक प्रिय के स्पर्शन, दर्शन, श्रवण और चिंतन की इच्छा ही नहीं रहती। कर्मों से हलके होते हैं, अतः मुक्ति के निकट पहुंच जाते हैं।

देवता धर्म और धर्मसंघ की प्रभावना करते हैं। वे चाहते हैं कि हम भी मनुष्य होकर धार्मिक जीवन बिताएं। उनका अवर्णवाद न मानना चाहिए। अवर्ण बोलने से भले उनका कुछ हो या न हो, स्वयं ही नरक तो निश्चित है। उससे जीव दुर्लभबोधि बन जाता है। इसलिए ऐसी वृत्तियों में संशोधन करना आवश्यक है।

नई दिल्ली

१६ अक्टूबर १९६५

जीव दुर्लभबोधि क्यों बनता है? (२)

जैन-धर्म भारतीय धर्मों में एक महत्त्वपूर्ण धर्म है। कुछ लोग ऐसा नहीं मानते और कहते भी हैं कि जैन-धर्म बहुत कठिन है। लेकिन मैंने कई लोगों से बातचीत की है कि जैन-धर्म ने धार्मिक बनने का जितना सुगम रास्ता बताया है, उतना सरल मार्ग दूसरी जगह नहीं मिलता। जैन-धर्म कहता है कि स्वयं गुणी बनने का प्रयास करे। यदि ऐसा न हो सके तो वह गुणी बनने का गुणानुवाद करे। जहां भी अच्छाई मिले, उसका अंतःकरण से ग्रहण करे। इससे वह स्वयं धार्मिक और गुणी बन जाता है। इससे भी स्पष्ट है कि जैन-धर्म तो यहां तक कहा गया है कि गुणियों का वर्णवाद करनेवाला धर्म नहीं हो जाता है।

सुलभबोधि का अर्थ हैहबोधि को सहजता से प्राप्त करनेवाला धर्म है। तत्त्व की बात दो व्यक्तियों को एक साथ बताई जाती है। एक जहां भी सुलभबोधि ग्रहण कर लेता है, गंभीर तथ्य को भी आसानी से पचा लेता है। दूसरा सुगम तत्त्व को भी नहीं समझ पाता। इसका कारण सुलभबोधि और दुर्लभबोधिता ही है।

सुलभबोधि स्वच्छ भित्ति पर चित्रकार की तूलिका आसानी से चित्र अंकित करता है। पर वही चित्रकार गोबर की भित्ति पर चित्रांकन करना चाहे तो उसे तूलिकाओं और काफी रंग की बरबादी के बाद भी सहजतया सफल नहीं हो पाता। व्यक्ति का जीवन एक भित्ति के समान है। उपदेष्टा चित्रकार है। सुलभबोधि सद्ज्ञान की तूलिका से संस्कार-निर्माण करना चाहता है। लेकिन दुर्लभबोधि आवरण नहीं हटता, मालिन्य नहीं मिटता, तब तक संस्कार-निर्माण कठिनाई रहती है।

निर्माण : अनेक जन्मों की यात्रा

सुलभबोधि ध्येय हैहसुसंस्कारी बनना। हमारा यह लक्ष्य एक जीवन में ही नहीं होता। अनेक जन्मों के प्रयत्न से संस्कारों का निर्माण होता है। सुलभबोधि लोग सोचते हैं कि उम्र लंबी होती तो न जाने कितना काम

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

करते। हमने जन्म-भर धर्म किया, दस वर्ष और जीते तो काम जाता। पर मेरी दृष्टि में यह सोच मात्र एक भ्रम है। ऐसा व जाता है कि इस जीवन की परिसमाप्ति पूर्ण मृत्यु है, इससे अ नहीं है, इसलिए काम करने का मौका नहीं मिलेगा? मृत्यु के काम बंद नहीं होता। हमें वर्तमान में जो संस्कार प्राप्त हैं, जन्मों से अर्जित हैं तथा जो अवशेष रहे हैं, वे अगले अनेक साधनासापेक्ष हैं।

दो घंटे : दो पंक्तियां

अनेक जन्मों में होनेवाले कार्य को हम एक जन्म में कर यह स्थिति के साथ न्याय नहीं है। आजकल हम मध्याह्न में आ मूल पाठ का अनुसंधान करते हैं। करीब डेढ़-दो घंटे उसमें इतने समय में काम होता है मात्र पांच, सात या आठ पंक्तियों दिन तो दो घंटे में दो ही पंक्तियां चलीं। पर उसका हमें वि असंतोष नहीं है। असंतोष तो तब हो, जब हम एक दिन में समा कर सकने की स्थिति में हों और प्रमादवश हमने किया हो। लेकिन जब हमें पता है कि इस काम में कम-से-माह अवश्य लगेंगे, तब असंतोष क्यों हो?

एक बात और भी है। चार महीनों का काम एक दिन में कचरा होगा। टाइफाइड में तत्काल गोली और इंजेक्शन देने तो उतर जाता है, पर भीतरी नुकसान बहुत होता है। इ खतरे को मोल लेकर काम में जल्दी करें, यह उस काम न्याय नहीं है।

सर्वज्ञों ने हमको द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का विवेक जिस कार्य में जितना काल आवश्यक हो, उतना काल लगना ही जल्दी में संयोगवश ही तीर निशाने पर लगता है। अधिकतर ही होती है। इसलिए 'हमारा आयुष्य लंबा होता तो हम काम देते'हयह सोचना उचित नहीं है।

वे लोग इस बात की चिंता कर सकते हैं, जिनका स्वार्थ परिचर्या और व्यवस्था में कमी आती है, दूसरी आवश्यकताओं में कठिनाई पैदा होती है। लेकिन मरनेवाला इस बारे में क्यों

सुलभबोधि बनने का मार्ग (?)

को मेरी जरूरत है!

संदर्भ में मैं आपको एक घटना बताऊँ। परसों मेरे पास एक व्यक्ति आया। उन्होंने एक प्रसंग में बताया कि एक विशिष्ट चिंतक ने एक व्यक्ति से कहा कि 'वर्तमान स्थिति में आपको मंत्री-पद छोड़ देना चाहिए। इससे बहुत-से लोग आपका साथ देंगे और कार्य में स्फूर्ति भी मिलेगी।' यह सुनकर उन्होंने उत्तर दिया कि 'आपकी बात तो ठीक है, परन्तु समय सरकार को मेरी जरूरत है।'

यदि मैं जरा बताएँ कि 'सरकार को जरूरत है' इस बात सरकार के लिए क्या है या व्यक्ति के स्वयं के सोचने की? मैं जहाँ तक समझता हूँ कि सरकार को जरूरत है या नहीं, यह एक अलग प्रश्न है, पर ऐसा व्यक्ति पद के प्रति व्यक्ति का मोह है, आसक्ति है। वस्तुतः काम करने के लिए पद के साथ कोई सीधा संबंध नहीं है। पद से मुक्त रहकर भी व्यक्ति काम कर सकता है। कहीं भी रहकर काम कर सकता है।

की प्रक्रिया

जैन-अभी जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा के एक वरिष्ठ व्यक्ति से मेरी बात हो रही थी। उन्होंने कहा कि 'समाज में काम करने के लिए कुछ ही व्यक्ति हैं। उनके पीछे अभाव-सा लग रहा है। आगमन के विशेषज्ञ आज की पीढ़ी में नहीं के समान हैं। अतः हमें लोगों को चाहिए कि वे पद से मुक्त होकर औरों को भी अवसर दें।'

उन्होंने कहा कि 'एक दृष्टि से चिंतन सही है। पर केवल पद पर आने से काम तैयार नहीं हो सकता। उचित तरीकों से काम सिखाने की जरूरत है। लेकिन मुझे लगता है कि इस बात की न तो किसी को चिंता है न ऐसी क्षमता है और न ही पूरा प्रयास होता है। चिंता, प्रयास तीनों होने पर ही इस दिशा में काम हो सकता है।'

हमें किसी व्यक्ति को तैयार करना है तो उस पर विचार और प्रयास की सीधा असर डालना होगा। कल ही एक तरुण विद्यार्थी मेरे पास बैठा था। मेरी इच्छा रहती है कि मैं विद्यार्थियों को समय दूँ और उनसे बात करूँ। इससे निकटता होती है और संस्कार पुष्ट होते हैं। एक बार के दौरान उस विद्यार्थी ने कहा कि 'हमारे मन में धर्म का असर न होना एक बहुत बड़ा कारण है। हम अपने बुजुर्गों को देखते हैं। वे

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

शुरू से ही निष्ठावान धार्मिक रहे हैं, हमें धर्माधना की सदा देते रहते हैं, पर उनके व्यवहारों में विसंवाद रहता है। यह देस में आता है कि हम धार्मिक बनकर क्या करेंगे!’

मैं देखता हूँ, लोग बच्चों को धार्मिक बनाने की बात करते बच्चे धार्मिक बनना भी चाहते हैं। लेकिन मात्र कहना या प्रेरणा इसके लिए पर्याप्त नहीं है। कहने या प्रेरणा देने का वह अभाव होता, जो आचरण और व्यवहार का होता है। मेरा तो यह विश्वास है कि बच्चे धर्म से परे होना नहीं चाहते, पर सही पथ अभाव में भटकन हो जाती है। रूढ़ परंपराओं का उन पर विशेष नहीं होता। गलत आचार व व्यवहार का उन पर विपरीत अभाव है। इसलिए तरुणों और विद्यार्थियों में धार्मिक संस्कार जगाने यौक्तिक तरीके काम में लेना अपेक्षित है। इससे भी अधिक व्यवहार और आचरण को सही रखने की जरूरत है।

यदि नई पीढ़ी सुसंस्कारी है तो दायित्व निभाने की बंधन समाहित हो जाती है। इसलिए ‘थोड़े दिन और रहता तो काम देता’हइस चिंतन के स्थान पर नई पीढ़ी को सुसंस्कारित करने सक्षम बनाने का चिंतन होना चाहिए। नई पीढ़ी को तैयार कर वर्तमान को संवारना ही इस समस्या का समुचित समाधान है।

वर्तमान का मूल्य

इस संदर्भ से हटकर मैं तो यह भी कहना चाहता हूँ कि वर्तमान को संवारना जीवन की सफलता का सबसे बड़ा राज है। लोग वर्तमान की चिंता करते हैं। पर भविष्य के गर्भ में क्या है, अंधकार प्रकाश, यह इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति का वर्तमान है। वर्तमान भविष्य की पृष्ठभूमि है। जिस व्यक्ति का वर्तमान अंधकार उसे भविष्य में अंधकार दिखाई देता है। इसके विपरीत जिसका वर्तमान प्रकाश है, उसका भविष्य भी प्रकाशमय होता है। जिसका वर्तमान ठीक है, उसका भविष्य कभी बिगड़ ही नहीं सकता। वह अपने भविष्य के प्रति निश्चित हो सकता है। इतना ही नहीं, अतीत भी तो वर्तमान पर आधारित है। वर्तमान ही तो अगले क्षणों में अतीत बनता है। इस स्थिति में यदि वर्तमान सुंदर है तो अतीत स्वतः ही सुंदर

सुलभबोधि बनने का मार्ग (१)

इसलिए व्यक्ति को अतीत और भविष्य की चिंता छोड़कर अपने
पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए।

अभिशाप न बने

धपुर के आनंदमलजी भंडारी कहते हैं मैं सत्तर वर्ष का हूँ। पर
कह सकता कि मैं वृद्ध हूँ। आज भी दस मील पैदल चल
। और भी अन्यान्य आवश्यक कार्य बिना किसी कठिनाई के
ता हूँ। बुढ़ापा उन्हें आता है, जो अपने खान-पान का संयम
ने, शरीर को आवश्यक श्रम से बचाते रहते हैं। पर मैं अपने
का पूरा-पूरा ध्यान रखता हूँ। असंयम से बचता हूँ, आवश्यक
ता हूँ और नियमित रूप से आसन करता हूँ। फिर मुझे बुढ़ापा
?’

ओ! यह केवल आनंदमलजी की बात नहीं है, बल्कि एक
ता है। आप भी यदि बुढ़ापा से बचना चाहते हैं, तो वर्तमान में
खान-पान और शारीरिक श्रम की दृष्टि से विवेक जगाएं। वैसे
क अवस्था है। उम्र के साथ वह अवस्था आती है। उसे कोई
सकता। बेशक, वैसा बुढ़ापा बुरा है, जिसमें व्यक्ति परवश पड़
ठी के सहारे बिना वह चल न सके। उसे औषधियों को भोजन
काम लेना पड़े। उसकी इंद्रियां अपना काम करना बंदप्रायः कर
स्थिति मैं जब मैं लोगों को देखता हूँ तो मेरे मन में आता है
इन्होंने अपने खान-पान और रहन-सहन का ध्यान नहीं रखा,
अब बुढ़ापा अभिशाप बन रहा है। यदि वे प्रारंभ से ही सजग
संभवतः आज यह स्थिति नहीं बनती। गीता में कहा गया है

**युक्ताहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तः स्वप्नाबोधस्य, योगो भवति दुःखहा॥**

जिस व्यक्ति का आहार-विहार ठीक है, अपने कार्यों में सजगता
बनी हुई है, सोना-उठना समय पर होता है, उस व्यक्ति का
योग दुःखों को नष्ट करनेवाला होता है।

त ही मैं श्री जुगलकिशोर बिड़ला से बात कर रहा था।
के दौरान मैंने पूछा है ‘आप खाना रात को तो नहीं खाते?’
ने कहा है ‘महाराज! मैं यह बात अच्छी तरह से जानता हूँ कि

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

रात्रि-भोजन अहिंसा की दृष्टि से ठीक नहीं है; स्वास्थ्य की दृष्टि से घातक है। पर क्या करूं, दिन का भोजन लगभग दो बजे खाने के लिए इसलिए शाम के खाने में रात हो ही जाती है।' सुनकर मुझे अपनी प्रसन्नता हुई कि बिड़लाजी रात्रिभोजनपरिहार का मूल्य समझाने की परिस्थितिवश उन्हें रात्रिभोजन करना अवश्य पड़ता है, पर प्रसन्न नहीं हैं।

मैं मानता हूँ, अध्यात्म की गहरी दृष्टि को सब कोई नहीं समझ पाते, कोई-कोई ही समझ पाता है। पर स्वास्थ्य की बात तो समझ सकता है। यह एक अनुभूत सचाई है कि खान-पान और आराम सहन की अव्यवस्था, अविवेक और असंयम तीनों स्वास्थ्य के लिये जो लोग वर्तमान में इस दृष्टि से सजग नहीं होते, वे भविष्य में और अनेक दुःसाध्य रोगों को आमंत्रण देते हैं। मैं ऐसे बहुत-से लोगों को जानता हूँ, जो दिन में तीन-तीन बार, चार-चार बार भोजन करते हैं। दिन-भर आराम से बैठे रहते हैं। सोते रहते हैं। आवश्यक नहीं करते। अध्यात्म का चिंतन नहीं करते। स्वास्थ्य की चिंता नहीं करते। लोग अपने हाथों अपने जीवन को बरबाद करते हैं। उनकी इस दृष्टि को देखकर मेरे मन में चिंतन आता है कि इनके इस प्रकार की चिंतन सार्थकता क्या है।

विवेक अमृत है

बंधुओ! बात छोटी हो सकती है, पर है बहुत महत्त्व की। आप छोटी समझकर इसकी उपेक्षा न करें। इसी में आपकी सुरक्षा है। इसकी उपेक्षा आपका बहुत बड़ा नुकसान करेगी। शरीर के लिए खाना-पीना आवश्यक है। खाना-पीना, सोना, घबराहट संजीवनी हैं, बशर्ते कि विवेक से युक्त हों। विवेक अमृत है। उदाहरण के लिए हर क्रिया व्यक्ति के लिए अमृत का कार्य करती है, उसके अमृत बनाती है। अविवेक जहर है। अविवेक से युक्त हर क्रिया अमृत का कार्य करती है, पूरे जीवन को जहर बना देती है। भगवान् महाकहाण्डसुत्ता अमुणी सया मुणिणो सया जागरंति। इसका अर्थ है अज्ञानी सदा सोते हैं, ज्ञानी सदा जागते हैं। बहुत गहरी सतर्कता यह। अज्ञानी/प्रमादी लोग ऊपर से जाग्रत रहकर भी सोते हैं। इसके विपरीत ज्ञानी सोकर भी जागते हैं। यहां शयन और जाग्रत सुलभबोधि बनने का मार्ग (१)।

विवेक ही है।

मैंने ही एक भाई दर्शनार्थ आया। उसका श्वास फूल रहा था। मैंने
‘यह स्थिति क्यों?’ वह बोलाह ‘क्या बताऊं, यह मोटापे का
‘है।’ मैंने कहाह ‘**हाथ कमाया कामड़ा, किणनै दीजै**
‘अभय की असावधानी से ही मोटापा हावी होता है। प्रारंभ से ही
‘अभय-पान, रहन-सहन आदि का विवेक रखते तो आज यह स्थिति
‘क्या थी?’

‘कई लोग कहते हैं कि आप थक गए हैं। सुनकर मुझे प्रसन्नता
‘कि मैं अपने लक्ष्य में सफल हो रहा हूँ। मैं उन्हें कहता हूँ, मैं
‘ही हुआ हूँ, बल्कि मैंने अपने शरीर पर काबू पाया है। शरीर
‘ही ढांचे में रहे, यह सातवेदनीय कर्म के उदय का परिणाम है।
‘न रहे, यह असातवेदनीय के उदय का परिणाम है। व्यक्ति यदि
‘विवेक को जाग्रत रखता है तो अशुभ कर्मों को विपाकोदय में
‘अवकाश नहीं मिलता।

धैत्व कर्म

‘संगवश मैंने बहुत-सी बातें कह दीं। हमारा मूल संदर्भ थाह
‘नेर्माण और संस्कार-प्राप्ति का। हम इस जीवन में ऐसे संस्कार
‘करें, जो हमारे भविष्य को संवारें। सुसंस्कारों के साथ
‘श्रान्त अपनी मंजिल की दिशा में चलते रहें। इस जन्म
‘मले न हों, हलुकर्मी देव तो अवश्य बनेंगे। फिर मनुष्य जीवन
‘मुक्त हो जाएंगे।

‘न होता है कि ऐसे संस्कार कैसे आएँ और लक्ष्य का निर्धारण
‘इस संदर्भ में भगवान ने कहा है कि पहले सुलभबोधि बनो।
‘सूत्र में पांच ऐसी बातें बताई गई हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति
‘धैत्व कर्म का अर्जन करता है। वे हैंह १. अर्हतों का
‘श्लाघा करता हुआ २. अर्हत-प्रज्ञप्त धर्म का वर्णवाद करता
‘आचार्य-उपाध्याय का वर्णवाद करता हुआ ४. चतुर्वर्ण संघ का
‘करता हुआ ५. तप और ब्रह्मचर्य के विपाक से दिव्य गति को
‘का वर्णवाद करता हुआ।

‘प्राधनीय-प्रशंसनीय की श्लाघा-प्रशंसा करने से हमारी विनम्रता

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

प्रकट होती है। सुलभबोधि की प्राप्ति में बाधक कर्मों के बंधन होते हैं। उनकी निर्जरा होती है और पुण्य का संचय होता है। सुगम मार्ग है! इसमें न किसी को भूखा मरना पड़ता है, न किसी को केश-लुंचन कराना पड़ता है। न किसी को पदयात्रा करनी पड़ती है। न नैष्ठिक ब्रह्मचारी ही रहना पड़ता है। केवल गुणधारण करने गुणों की मन-ही-मन स्तवना करने से विकास का मार्ग प्रशस्त है। उपाध्याय विनयविजयजी ने कहा है

**जिह्वे! प्रह्वीभव त्वं कृतिसुचरितोच्चारणे सुप्रसन्न
भूयास्तामन्यकीर्तिश्रुतिरसिकतया मेऽद्य कर्णौ सुकण्ठ
वीक्ष्यान्य प्रौढलक्ष्मीं द्रुतमुपचिनुंत लोचने! रोचनत
संसारेऽस्मिन्नसारे फलमिति भवतां जन्मनो मुख्यमे**

ह है जिह्वे! तुम गुणीजनों के गुणों की प्रशंसा करके प्रसन्न श्रोत्रो! तुम दूसरों की कीर्ति सुनकर मुदित रहो। हे अर्णो! दूसरों की उन्नति देखकर हर्षित रहो। इतना करो कि समझो कि इस संसार में तुमने अपना जन्म सफल बना

बंधुओ! जैसाकि मैंने अपने प्रवचन के प्रारंभ में कहा था। बनने का जितना सीधा मार्ग जैन-धर्म प्रशस्त करता है, उतना ही मार्ग अन्यत्र दुर्लभ है। इस मार्ग को अपनाकर एक सीमा तक व्यक्ति धार्मिकहसुलभबोधि बन सकता है।

नई दिल्ली

१७ अक्टूबर १९६५

सुलभबोधि बनने का मार्ग (१)

है। भगवान की स्तुति में कहा गया है

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः

मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान्॥

ह भगवन! आपके पास देवता आते हैं। आप आकाश करते हैं। आपके पास छत्र, चामर आदि का ऐश्वर्य है। सबसे आप महान नहीं हैं, क्योंकि ये सब तो एक के पास भी हो सकते हैं। (आपकी महानता का हेतु है निर्लिप्तभाव, आपकी निरहंकारता। इतनी विभूतियों के आपका किसी के प्रति रोग-द्वेष नहीं है, आपके मन में और गर्व नहीं है।)

अस्तु, इंद्र पूजा करे, यह जनसाधारण के लिए महत्त्व की सकती है, भगवान के लिए नहीं। भगवान उस समय भी सम यही बात साधु-साध्वियों की है। कोई बड़ा आदमी उनके पास उनको वंदन करता है, इससे वे बड़े नहीं होते। नहीं आता है, करता है, तो वे छोटे नहीं हो जाते। वे तो अपने समत्व में प्रयत्न करते हैं। यह समत्व की साधना ही उन्हें महान बनाती

तीर्थकरों का एक विशेषण है **अत्यन्तसत्यवचनाः**। तीर्थवाणी एकदम सत्य होती है। उसमें असत्य का अंश भी नहीं असत्य बोलने के कारण है ह्यराग, द्वेष, मोह, हास्य, अज्ञान और तीर्थकर इनमें से एक भी कारण से युक्त नहीं होते, इस सदा सत्य ही बोलते हैं।

सत्य शब्द के दो अर्थ हैं ह्यथार्थ और हितकर। यथार्थ कहीं अहितकर हो जाता है। अतः **सद्भ्यो हितं सत्यम्** ह्यस्य लिए हितकर, इस अर्थ को महत्त्व दिया गया। भगवान ने कहा **वि सा न वत्तवा, जओ पावस्स आगमोह्वैसी** सत्य नहीं बोलनी चाहिए, जो पाप का बंधन करती है। तीर्थकर वैसा बोलते हैं, जो अहितकर नहीं है। इसलिए उनकी वाणी का महत्त्व

तीर्थकरों की स्तुति में उनको **शिवगतिगमनाः** शब्द से किया गया है। तीर्थकर उसी जन्म में मोक्षगति प्राप्त करनेवाले अतः सब उनको वंदना करते हैं।

अरहंत और सिद्ध दो हैं। अरहंत संसार में रहते हैं और सिद्ध सुलभबोधि बनने का मार्ग (२) —

होते हैं। मुक्ति के बाद अरहंत भी सिद्ध बन जाते हैं। लेकिन
ले वे भी कर्मों से बंधे हुए होते हैं। उन्हें भी मौत का मुकाबला
हता है, वेदनीय कर्म के साथ जूझना होता है, क्योंकि अभी तक
ही क्षीण होते हैं। तीर्थंकर तपस्या करते हैं। विहार
। आहार और निहार करते हैं। व्याख्यान देते हैं। चतुर्विध संघ
करते हैं।.....

मरो : दीर्घजीवी बनो

एक बार एक ब्राह्मण भगवान महावीर के समवसरण में आया।
को वंदन कर वह वह बोलाह 'जल्दी मरो।' राजा श्रेणिक भी
था। उसके अभिमुख होकर शुभाशीर्वाद दियाह 'जीते
क को उसका यह व्यवहार बहुत बुरा लगा। पर सभ्यता के
उस समय कुछ नहीं बोला। पर ज्यों ही वह ब्राह्मण समवसरण
निकला, श्रेणिक ने कहाह 'कैसा बेहूदा है! इसे बोलने का
विवेक नहीं है। भंते! यह कौन है?'

भगवान महावीर ने उत्तर दियाह 'यह दर्दुर देवता है। ब्राह्मण का
गण करके आया है। पिछले भव में यह नंदन मणिहारा का जीव
त-सिद्धांतों पर इसकी गहरी आस्था थी। एक बार उसने
तेला किया। तपस्या में भयंकर प्यास लगी। नंदन होश भूलने
इसके साथ-साथ ही उसे सिद्धांतों की भी विस्मृति होने लगी।
वचा, वे व्यक्ति धन्य हैं, जो कुआं, तालाब आदि बनवाते हैं।
णी वहां शीतल पानी पीकर सुखी होते हैं।.....इस प्रकार के
वह पतित हो गया। पौषध संपन्न कर उसने कारीगरों को
और एक वापी बनाने का आदेश दिया। अपनी काफी संपत्ति
उसने पुष्करिणी बनवाई। उसका नाम रखाह नंदा पुष्करिणी।
पान-स्थान पर हजामत करवाने का, स्नान और आमोद-प्रमोद
प्रबंध किया। नंदन उसमें इतना आसक्त हो गया कि दूसरे
उसका मन ही नहीं लगता। इस आसक्ति के कारण वहां का
मायुष्य पूरा कर वह वापी में मेढ़क बन गया। वहां जो लोग
कहतेह धन्य है नंदन को! धन्य है नंदन को! उसने हमारे लिए
पुविधा कर दी!..... मेढ़क ने बार-बार नंदन का नाम सुना तो
किया कि यह नंदन कौन है। मति एकाग्र हुई और उसे
ने ज्ञान हो गया। पिछला जन्म दिखाई देने लगा। जब पता

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

चला कि यह नंदन मैं ही हूँ तो उसे अपनी भूल पर गहरा अनु
और वह अर्हत-प्रवचन में पुनः श्रद्धानिष्ठ हो गया।

एक दिन उसने देखा, हजारों-हजारों स्त्री-पुरुष उपदेश
लिए समवसरण की ओर जा रहे हैं। उसने भी बड़े उत्साह
समवसरण की दिशा प्रस्थान किया। जिस मार्ग से होकर वह
रहा था, उसी मार्ग से होकर तुम भी घोड़े पर चढ़े समवसरण
बढ़ रहे थे। सहसा चपल तुरंग ने अपने पैर से उसे कुचल वि
तरह घायल हो जाने के कारण वह चलने में असमर्थ हो गया।
नहीं, उसे अपना आयुष्य भी क्षीण होता नजर आया। मौत
जान उसने अपना कर्तव्य सुनिश्चित किया। शक्ति जुटाकर जैसे
मार्ग के किनारे पर आ गया और उसने यावज्जीवन के लिए
स्वीकार कर लिया। कुछ समय पश्चात अत्यंत समाधि-अवस्था
शरीर का त्याग किया। इस प्रकार अनशनपूर्वक मृत्यु को प्राप्त
मेढ़क यह दर्दुर देव बना है।’

भगवान महावीर की पूरी बात सुनकर राजा श्रेणिक बोले
में क्या दरिद्र नहीं होते थे? देव है तो क्या हुआ, देवों में भी
हो सकते हैं। फिर यह तो मूर्ख ही नहीं, महामूर्ख है। अन्यथा
लिए ऐसी अशुभ बात मुंह पर नहीं लाता।’ भगवान ने कहा
तुम भूल कर रहे हो। सबकी अपनी-अपनी भाषा होती है।
अपनी भाषा में गहरी बात कही है। पर उसका रहस्य न स
कारण तुम्हें वह बुरी लग रही है।’

श्रेणिक ने रहस्य को अनावृत करने का अनुरोध किया तो
बोलेहूँ‘दर्दुर देव ने मेरे लिए कहाहजल्दी मरो। इसका अर्थ हैहज
बनो। संसार से छूटते ही मुझे मुक्ति में जाना है, इसलिए वह
की कामना करता है। और तुम्हारे लिए जो बात कही उसे
रहने दो, क्योंकि वह बहुत कड़ी है।’

श्रेणिक ने फिर अनुनय किया तो भगवान ने कहाह‘देव
लिए कहाहजीते रहो। जब तक तुम जीते हो, तब तक ही उ
मरने के साथ ही तुम्हारे लिए नरक तैयार है। जब तक नहीं
तब तक धर्म की आराधना करते हो, सभी दृष्टियों से सुखी हो

श्रेणिक अपना दुर्भविष्य सुनकर उदास हो गया। बोलाह‘
तन-मन से आपकी भक्ति की, आज भी कर रहा हूँ। आप
सुलभबोधि बनने का मार्ग (२)—————

परिणाम! मैं नरक में जाऊंगा, इससे क्या आपकी भक्ति नहीं होगी?’

वान ने समझायाह‘यह प्राप्ति भक्त बनने के बाद की नहीं है। ही यदि तुम इस स्थिति में रहते तो यह घटना घटती ही नहीं, अर्हत्तों की वंदना/अर्चना/स्तवना सुलभबोधि होने का एक हेतु ओ! आप भी इस बात को समझें। ‘अर्हत रागद्वेषरहित होते हैं, र सर्वदर्शी होते हैं। उनकी वाणी यथार्थ है। वे उसी भव में नेवाले होते हैं। परोपकारी होते हैं। उनके उपकार से कोई भी ही हो सकता।.....’हइस प्रकार अंतःकरण से उनकी स्तवना प्राणी अपने उज्ज्वल भविष्य का पथ प्रशस्त कर लेता है।

नी

दूबर १९६५

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

३० : सुलभबोधि बनने का मार्ग (३)

धर्म वह तत्त्व है, जो आत्मगत रहता है। जो व्यक्ति धर्म व से बाहर देखते हैं, वे वास्तव में उसे पहचानते नहीं। देव और प्राप्त करने के लिए उन्हें बाहर खोजना पड़ता है, क हमारी आत्मा में नहीं हैं। वे हमारे भीतर आ जाएंगे तो अपने कैसे रहेंगे? यह दूसरी बात है कि हमें क्षण-क्षण उनकी स् है। हमारी रग-रग में वे रमे हुए हैं। पर ऐसा कहने का अर्थ है कि उनके प्रति हमारी अटूट आस्था है। लेकिन वास्तव में और आराधक दोनों एक नहीं होते।

धर्म आत्मा का अभिन्न अंग है, फिर भी उसे पहचानने जाती है। इसका कारण है। प्रायः दूर की चीज को पहचानने का प्रयास किया जाता है, पर निकट को कम देखा जाता है। सहजतया संभव भी नहीं है। आंखें सबको देखती हैं, पर स्वयं देख पातीं। आंख की कीकी कैसी है, भौंहें कैसे हैं, इन्हें देखने तो दूसरी आंखों की अपेक्षा रहती है। दीए तले अंधेरा वाली ऐसे ही चरितार्थ हुई है।

देव और गुरु का मूल्य

धर्म हमारे भीतर है, पर उसे देख नहीं पाते। अर्हत हमें बोध करवाते हैं। उनके पास जाने का उद्देश्य यही है कि हम अवबोध कर सकें, स्वयं की पहचान कर सकें। अर्हत न हों तो पास जाते हैं। अभी लोग दिल्ली में आते हैं। हिंदू महासभा पहुंचते हैं और यहां बनी छोटी-छोटी कुटियाओं में रहते हैं। कुटिया आप लोग देख ही रहे हैं। ऊपर से पूरी छाई हुई नहीं हैं और पूरी लीपी हुई नहीं हैं। धूप और हवा की भी उनमें पर्याप्त सु है। इसके बावजूद लोग बड़ी उमंग से उनमें रहना चाहते हैं, अनेक प्रकार के कष्टों को सहर्ष सहते हैं। उनमें रहने का उन

सुलभबोधि बनने का मार्ग (३)

है कि गुरु के संपर्क से स्वयं और धर्म को पहचानें।
के पास रहने से शांति का अनुभव होता है, सुख मिलता है।
न हो तो कष्टों को सहन करके उनका सान्निध्य कौन साधे?
की सही पहचान करवाते हैं, धार्मिक बनने की प्रक्रिया बताते
द्वारा बताए गए मार्ग पर चलनेवाला धर्म के निकट पहुंच
। गुरु के पास ऐसी कला नहीं है कि वे चाबी घुमाकर धर्म का
खोल दें। धर्म के लिए तो व्यक्ति को स्वयं सजग होना पड़ता है
नी आत्मा में ही उसकी खोज करनी होती है।

त है?

अध्याचार धर्म नहीं है। धर्म हैह्रअहिंसा। अहिंसा का फलित हैह्र
यह आत्मा से बाहर कहीं नहीं मिल सकती। सत्य और अचौर्य
हैं। प्रामाणिकता, ईमानदारी, सही चिंतन आदि इनकी परख
धर्म है। ब्रह्मचर्य का अर्थ हैह्रइंद्रियों और मन की पवित्रता।
से आत्मा अपवित्र हो जाती है। ऋषि-मुनि इसको कीचड़
कीचड़ में स्नान करनेवाला अपवित्र कैसे नहीं होगा?

त-से लोग अब्रह्मचर्य को अच्छा समझते हैं। **बड़ों की जूठन**
मिठाई बन जाती हैह्रइस कहावत के अनुसार त्यागी मुनि
न समझकर छोड़ देते हैं, उसी को साधारण व्यक्ति अपना खाद्य
नने लग जाते हैं। पूर्ण ब्रह्मचर्य का प्रमाण व्यक्ति की स्वयं की
है। स्पर्शजन्य अब्रह्मचर्य न करनेवाले भी अब्रह्मचारी हो सकते
के अब्रह्मचर्य का सीधा संबंध स्पर्श से नहीं, मानसिक विकार
त्रता से है। यदि पवित्रता है, तो कदाचित् स्पर्श हो भी जाए
ब्रह्मचर्य खंडित नहीं होता। यह साधना है तो कठिन, पर
दृढ़ हो तो कठिन कार्य भी सरल हो जाता है।

रिग्रह, अनासक्ति और निर्ममताह्रये तीनों धर्म के अंग हैं। मैं
बुजुर्ग लोग सामायिक करते हैं। पर सामायिक में जितना
धर्म का नहीं रखते, उतना ध्यान बच्चों और धन का रखते हैं,
लिए धन का संग्रह करने के उपाय सोचते हैं। यह कैसी विचित्र
कि जहां बुजुर्ग लोग अधिक-से-अधिक धन बटोरकर रखना
वहीं उनके बच्चों में धन के प्रति इतनी आसक्ति नहीं है! वे
कि धन का उपयोग हो तो ठीक, अन्यथा तिजोरी भरकर रखने
फायदा। इसके बावजूद उनके विचार बुजुर्ग लोगों में संक्रांत नहीं

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

होते, यह एक आश्चर्य है!

बाबाजी मत्स्येंद्रनाथ जंगल से होकर जा रहे थे। उनके साथ एक शिष्य (गोरखनाथ) था। बाबाजी के थैले में कागज से तैयार कोई भारी चीज थी। थैला शिष्य को संभालते हुए बाबाजी बोले 'सावधान रहना।' शिष्य ने कहा 'गुरुजी! मैं देख-देखकर चलता हूँ।'

कुछ दूर दोनों चले। बाबाजी ने फिर कहा 'शिष्य! आगे जंगल है। लुटेरों का भय है। विशेष सावधानी रखना।' शिष्य सहमत हो सका। वह सोचने लगा कि लुटेरे हैं तो हमारा क्या लेंगे।

थोड़ी देर बाद गुरु को शौच की अपेक्षा हुई। शिष्य से कहा 'यहीं रुको। मैं देह-चिंता से निवृत्त होकर आता हूँ।'

बाबाजी वहां से चले गए। पीछे से शिष्य ने थैले में से वह भारी चीज खोलकर देखी। वह एक सोने की ईंट थी। शिष्य सोच लिया कि बीमारी यही है। गुरुजी को इसी का भय है। आज शिष्य को खत्म करके गुरुजी को निर्भय बनाना है। ऐसा सोचकर शिष्य ईंट एक गहरे गड्ढे में फेंक दी।

थोड़ी देर पश्चात गुरुजी शौच से निवृत्त होकर आए और शिष्य के साथ आगे के लिए प्रस्थित हो गए। दोनों कुछ ही दूर चलते ही गुरुजी ने फिर शिष्य को सावधान किया। शिष्य बोला 'गुरुजी! शिष्य को खत्म करके आया हूँ।' यह सुनते ही गुरुजी चौंके। पूछा 'क्या?' शिष्य ने कहा 'मैं आपको अपना गुरु मानता हूँ। पूर्ण समझता हूँ। आपको क्षण-क्षण में भय सताता है। ऐसी स्थिति में आप मेरा संरक्षण और विकास कैसे कर सकेंगे? अतः मैंने आज निर्भय बना दिया है। भय को गहरे खड्डे में फेंक आया हूँ।' कहकर उसने खाली थैला गुरुजी को संभला दिया।

एक बार तो बाबाजी को बहुत पीड़ा हुई। पर शीघ्र ही शिष्य से कहा गया। बोले 'शिष्य! तुमने बहुत अच्छा किया। मैं परिग्रह के भटक गया था। पर तुम मुझे पुनः सत्पथ पर ले गए। अब हम होकर चलेंगे। हमें किसी प्रकार का भय नहीं रह गया है।'

धन : आसक्ति : परिग्रह

मैं मानता हूँ, अर्थ सामाजिक प्राणी की एक अनिवार्य अंग है। उसके बिना उसका काम नहीं चलता। ऐसी स्थिति में रक्षा सुलभबोधि बनने का मार्ग (३) —————

व्यक्ति व्यापार न करे, अर्थ का सर्वथा संग्रह न करे, यह कैसे पर यहां पर एक बात समझने की है। धन और परिग्रह दो तत्त्व हैं। धन पदार्थ है और परिग्रह है आसक्ति। धन-वैभव सदा रहा है, रहेगा। उसे कैसे मिटाया जा सकता है? बस, के प्रति व्यक्ति की आसक्ति न रहे। वह उसमें डूबे नहीं, न हो। जो व्यक्ति जिस सीमा तक इस आसक्ति/मूर्च्छा से दूर वह उस सीमा तक परिग्रह से मुक्त रहता है। जितनी-जितनी मौजूद रहती है, उतना-उतना परिग्रह शेष रहता है।

बार कुछ जर्मन लोगों की गोष्ठी में अपरिग्रह का प्रसंग चला। के एक विद्वान ने कहाह 'अर्थ के संबंध में जर्मन लोगों के में और भारतीय दृष्टिकोण में एक मौलिक अंतर है। भारतीय को छलपूर्वक संचित करके रखते हैं, उसे कम-से-कम खर्च हते हैं। इसके विपरीत हम जर्मनवासियों का विश्वास संचय में हम, जितनी अपेक्षा होती है, उतना खर्च कर देते हैं। व्यय की न-से-आगे होती रहती है।'

व्यक्ति तो यहां तक मानते हैं कि व्यय जितना अधिक होगा, उतनी ही अधिक होगी। व्यय नहीं बढ़ेगा, तो आय भी नहीं यय ही आय आधारित है। इस विचार से बहुत-से लोग सहमत हो सकते हैं, पर इतना तो सुनिश्चित है कि अर्थ के प्रति मूर्च्छा अच्छी नहीं है। यह पाप-बंधन का कारण है। इस मूर्च्छा को छोड़ना धर्म का रास्ता है।

संदर्भ में एक बात और महत्वपूर्ण है। आसक्ति/मूर्च्छा हमारे, तो अनासक्ति भी हमारे भीतर ही है। धर्म के तत्त्व को ला इस आसक्ति को कम करने एवं उससे छूटने के लिए सचेष्ट भगवान महावीर ने मूर्च्छा-मुक्ति पर सर्वाधिक बल दिया है।

ओ! धर्म के स्वरूप को मैंने आपके सामने रखा। यह सत्य-धर्म प है। यह धर्म शाश्वत है। जन्म-जन्मांतर में व्यक्ति के साथ सुख-दुःख में सचे मित्र की तरह साथ निभाता है। और बहुत यह है कि धर्म प्राणी का एकमात्र मित्र है। इस धर्म की प्रत्येक प्राणी के जीवन में है। इससे आगे मैं तो यहां तक कि इस धर्म को स्वीकार किए बिना व्यक्ति शांति और सुख से नहीं सकता। ऐसे धर्म से जो घृणा करता है, वह वस्तुतः सुख

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

से घृणा करता है, शांतिमय जीवन जीने से घृणा करता है। धर्म से घृणा करते हैं, उन लोगों को मैं आह्वान करता हूँ मेरे से मिलें। मैं उन्हें धर्म की उपादेयता से सहमत प्रयत्न करूँगा। मैं जहाँ तक समझ पाया हूँ, लोगों को घृणा नहीं, अपितु तथाकथित धर्म से है, अधर्म से है, अधर्माचरण सत्य-धर्म से कोई घृणा नहीं करता। धर्म की प्रशस्ति में कहा

वत्थुपयासणसूरो,

अतिसयरयणाणसायरो जयइ ।

सव्व जग जीव बन्धुर-

बन्धू दुविहो वि जिणधम्मो ॥

उपाध्याय विनयविजयजी ने कहा हैह

बन्धुरबन्धुजनस्य दिवानिशिमसहायस्य सहायः।

भ्राम्यति भीमे भवगह्नेऽङ्गी त्वां बान्धवमपहाय ॥

ह धर्म अबांधव का बांधव है, असहाय का सहाय भूलनेवाला मनुष्य संसार में भटक जाता है।

सुलभबोधित्व की प्राप्ति के हेतुओं की चर्चा पिछले प्रारंभ की थी। इस सत्य-धर्म यानी अर्हत-प्रज्ञप्त धर्म की प्रशस्ति वर्णवाद बोलना उसका एक महत्त्वपूर्ण हेतु है। यह बहुत सरल इस साधन को अपनाकर कोई भी व्यक्ति सुलभबोधित्व की दुल उपलब्ध हो सकता है।

नई दिल्ली

१९ अक्टूबर १९६५

सुलभबोधि बनने का मार्ग (३)

१ : सुलभबोधि बनने का मार्ग (४)

तेसिं णमो तेसिं णमो,
भावेण पुणो वि तेसिं णमो।
अणुवकय परहितरया,
जे नाणं दलेति भव्वाणं॥

आचार्य और उपाध्याय की स्तवना करते हुए कहा गया है कि जो आपको ज्ञान देते हैं और प्रतिफल की भावना के बिना परहित में आपको नमस्कार हो, बार-बार भाव नमस्कार हो।

आचार्य का काम उपकार करने का है और उपकृत का काम उपकार रखने का है। हम सब आचार्य, उपाध्याय, जिनवाणी, शास्त्रों के उपकृत हैं। उपकार दो तरह के हैं। पहली कोटि में वह उपकार है, जो बदले की भावना से किया जाता है। अमुक व्यक्ति उपकार किया है अथवा अमुक व्यक्ति मेरा उपकार करेगा, ऐसा किसी का भला करना। पर यह उपकार वास्तविक उपकार नहीं है। अमुक व्यक्ति ने मेरा भला किया है या भविष्य में करेगा, इस प्रकार की उपकार करने के साथ नहीं जुड़ी होती। वस्तुतः यही सच्चा उपकार है।

उपकार के साथ जुड़ा परमार्थ

आचार्य को नमस्कार इसलिए किया जाता है कि वे प्रतिफल की भावना के बिना दूसरों का हित करते हैं। मैं आपको व्याख्यान सुनाता हूँ। मुझे मेरे मन में यह भावना रहे कि ये लोग मेरी सेवा करेंगे, मुझे भला कर देंगे, तो वह सौदा हो जाएगा। उपदेश सुनाना ही उपकार है। मुझे अपना काम करना चाहिए। इससे आपका उपकार यह स्वार्थ के साथ सहज परमार्थ होता है।

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

परोपकार और सन्तजन

संत-मुनियों का जीवन तो एक अपेक्षा से परोपकार के होता है। इस संदर्भ में किसी कवि ने कहा है

**सरवर, तरवर, संतजन, चौथो बरसै मेह।
परोपकार के कारणै, चारुं धारी देह॥**

तालाब पानी से भरा रहता है। पानी में मछलियां रहती अनेक प्राणी रहते हैं। लोग पानी पीकर प्यास बुझाते हैं। कपड़े धोते हैं। अन्यान्य कार्य करते हैं।..... हम लोग धूप में पर जैसे ही सड़क के किनारे वृक्ष की छांह दिखाई पड़ती है, इच्छा हो जाती है। वहां पर रुकते ही मन में आता है, हम तो खड़े हैं, लेकिन वृक्ष तो धूप में ही है। कितना परोपकारी है हर पथिक को सहज भाव से छाया प्रदान करता है। इतना ही इस पर पत्थर भी फेंकता है, फिर भी यह तो उसे छांह ही देता फल ही देता है। वह ऐसा कभी नहीं सोचता कि फेंकनेवाले नहीं दूं, फल नहीं दूं या कड़वा फल दूं। इसी प्रकार चंदन भी सुवास लुटाता है। वह ऐसा विचार कभी नहीं करता कि मुझे को मैं सुवास न दूं। मैंने एक जगह लिखा है

**पत्थर की मार तो भी फल में मिठास है।
घिसकर भी चंदन में वास है, सुवास है॥**

पिछले दिनों हिंदू महासभा के अध्यक्ष श्री चटर्जी मेरे थे। वार्तालाप के दौरान उन्होंने कहा 'आचार्यजी! हिंदू महासम्मेलन हो रहा है। उस सम्मेलन में आपको भी सम्मिलित मैंने कहा 'अभी तो चातुर्मास संपन्न होने में कुछ दिन शेष हैं। की समाप्ति से पूर्व तो हम विहार करेंगे नहीं।' श्री चटर्जी ने कहा 'सम्मेलन अभी नहीं है, कई दिनों बाद होगा।' मैंने कहा 'संपन्न हो जाने के पश्चात तो हम विहार कर जाएंगे।' श्री चटर्जी ने कहा 'आचार्यजी! आप चाहे कहीं भी क्यों न रहें, घंटा-दो-घंटा तो सम्मेलन के लिए निकाल ही सकते हैं। अतः अभी से लें।' मैंने कहा 'लक्ष्य बनाने की बात तो ठीक है, पर आने में है।' श्री चटर्जी ने कहा 'कठिनाई क्या है? आजकल यातायात की तो कोई कमी नहीं है।' मैंने कहा 'यातायात-साधनों की नहीं है, पर हम तो पदयात्री हैं। ऐसी स्थिति में साधन हमारे

सुलभबोधि बनने का मार्ग (४)

हमारे पदयात्री होने की बात सुन उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उसी में वे बोलेह'आप पैदल चलते हैं!' मैंने कहाह'पदयात्रा हमारा न है। हम उम्र-भर पैदल ही चलते हैं। किसी यान-वाहन का नहीं करते।' श्री चटर्जी अब तक भी उसी आश्चर्य की भावधारा हे थे। बोलेह'मैंने तो सुना है कि आप कलकत्ता गए हैं।' मैंने , कलकत्ता, बम्बई.....सब जगह गए हैं। लेकिन गए हैं, से चलकर ही।' यह सुनकर श्री चटर्जी बोलेह'तब तो आपका चमुच कठिन है।'

ओ! पदयात्रा की बात सुन श्री चटर्जी ही आश्चर्य में खो गए बात नहीं है। बहुत-से लोगों को ऐसा ही अनुभव होता है। पर यह सहज साधना है। यद्यपि, जैसाकि मैंने कहा, यह उनका है। इससे परोपकार सहज रूप से होता है। हजारों-हजारों लोगों माध्यम से ज्ञान मिलता है; जीवन जीने की कला सीखने को है; सात्त्विकता की प्रेरणा मिलती है; दुर्व्यसनों से उनका पिंड इससे अधिक और क्या परोपकार होगा! इस दृष्टि से संतजन सबसे बड़े परोपकारी हैं।

हारे धर्मसंघ के एक साधु थेह्ममुनिश्री कुंदनमलजी। उनको दिन-धुन रहती थीहलोगों को तत्त्व-ज्ञान देना। उनका अज्ञान दूर इस कार्य में उन्हें इतना आत्मतोष मिलता था कि वे एक-एक लिए तीन-तीन, चार-चार घंटे का समय लगा देते थे। कई तत्त्व समझाते-समझते रात्रि के बारह तक बज जाते थे।

गों की आजकल आम शिकायत है कि नई पीढ़ी धर्म के तत्त्व से अनजान है। आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, पुण्य, पाप आदि के बारे नहीं ज्ञान नहीं है। पर आप मुझे बताएं कि उसे तत्त्व-ज्ञान करवाने कौन करता है? जब इस दिशा में प्रयत्न ही नहीं है तो नई ज्ञान की कमी हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मेरा कि यदि इस दिशा में सलक्ष्य प्रयास हो तो इस शिकायत को केया जा सकता है; नई पीढ़ी को तत्त्वविद बनाया जा सकता पीढ़ी की बात तो बहुत महत्त्वपूर्ण है, एक व्यक्ति भी समझता है कम महत्त्व की बात नहीं है। जो कोई किसी व्यक्ति को समझाने करता है, वह बहुत बड़ा उपकारी है।

ग कहते हैं कि आजकल सैद्धांतिक तत्त्वों में रुचि नहीं है। मुझे
— जागो ! निद्रा त्यागो !!

लगता है कि यह बात बहुत तथ्यपूर्ण नहीं है। आज भी यदि तत्त्वों को बताया जाए तो उनमें कहानी-किस्सों से अधिक आनंद है। ऐसा कौन व्यक्ति है, जो आनंद से वंचित रहना चाहता है? कौन व्यक्ति है, जो अज्ञान में जीना चाहता है? आवश्यकता है पथ-दर्शक की, तत्त्वबोध देनेवाले की। हां, तत्त्वबोध देनेवाले को का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि मेरे सामने व्यक्ति कौन हैं। आधुनिक हैं तो आधुनिक तरीकों से समझाया जाना चाहिए। प्राचीन लोगों को समझाने के लिए पुराने तरीके अधिक उपयोगी कारगर होते हैं।

सफल व्याख्याता कौन ?

यही बात व्याख्याता के लिए है। व्याख्याता अपने प्रवचन परिषद का ज्ञान करे। अन्यथा वह सफल व्याख्याता नहीं बन सकेगा। आज की परिषद में कौन आए हैं, श्रद्धालु लोग ही हैं या तार्किक भी हैं, अन्य मतावलंबी लोग हैं तो वे किस-किस मान्यतावाले गहरे पैठे हुए हैं, क्या जानते हैं आदि सब तथ्यों को ध्यान में बोलनेवाला ही अपने उद्देश्य में सफल होता है।

आचार्य-उपाध्याय की प्रशस्ति क्यों ?

ये बातें मैंने प्रासंगिक तौर पर कही। मेरा मूल पतिपाद्य है उपाध्याय की प्रशस्ति।

‘आचार्य, उपाध्याय विशेष अतिशयों से संपन्न हैं। उनका शुद्ध है, दृष्टि विशुद्ध है। रात-दिन श्रम करते हैं। सजग रहते हैं। विकास के नए-नए उन्मेष लाते रहते हैं। उनके गुण निर्मल हैं।’ प्रशस्ति करने से जीव सुलभबोधित्व को प्राप्त होता है। उस प्रशस्ति में कृत्रिमता नहीं होनी चाहिए। केवल आचार्य-उपाध्याय प्रसन्न करने के लिए स्तुति की जाती है तो कृत्रिमता आएगी रहती। ध्यान रहे, कृत्रिमता व्यक्ति को कभी लक्ष्य तक नहीं ले जाती। अतः आत्म-धर्म मानकर ही प्रशस्ति करनी चाहिए, वर्णवाद बोलना

आलोचना : कैसे करें ? कैसे सुनें ?

समय के अनुसार परिस्थिति भी बदलती रहती है। एक समय जब घंटों-भर प्रशस्तियां की जाती थीं। पर आज वे अच्छी नहीं हैं। आज सिद्धांत यह बना है कि प्रशस्ति पीठ पीछे हो और सुलभबोधि बनने का मार्ग (४)

ऐसा करने से दोनों को लाभ मिलता है। हां, पीठ पीछे प्रशंसा करने आलोचना करने में साहस की अपेक्षा है। एक प्रामाणिक व्यक्ति ही ऐसा करने में सक्षम हो सकता है।

आलोचना सुनना भी कोई कम कठिन काम नहीं है। उसको सुननेवाले घबरेते हैं। आलोचना सुनकर तनाव पैदा हो जाए तो स्थिति गड़बड़ाती है। कोई व्यक्ति किसी की स्पष्ट आलोचना करे, उस समय उसका दिल कि वह उसे शांति से सुने। आलोचना तथ्यहीन है तो सामनेवाले को बताना चाहिए और सही है तो उसे स्वीकार करे। मैं अक्सर ऐसी मानसिकता देखता हूँ कि मेरे बारे में भले कोई कुछ भी कहे, यदि वह सही है तो उसे सुनने में संकोच नहीं होना चाहिए। यदि ऐसी स्थिति में संकोच होता तो वह दुर्बलता है। यह दुर्बलता मेरी हो या अन्य किसी की, इसका मतलब ही है।

आलोचना की आलोचना करने में भी विवेक की बहुत अपेक्षा है। आलोचना के शब्दों में मधुरता हो और तथ्य प्रामाणिक हों, यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। सीधे पत्थर फेंकने से काम बढ़ जाता है।

संकोच यह है कि आलोचना करना और सुनना दोनों कलाएं हैं। आलोचना करने में साहस और अभय की जरूरत होती है तो सुनने में संकोच दोनों ही स्थितियों में उचित नहीं है। इसी प्रकार गुणीजनों को आलोचना में भी संकोच नहीं होना चाहिए। आचार्य-उपाध्याय विशेष महत्वपूर्ण हैं। हमें उनकी निःसंकोच और मुक्तभाव से प्रशंसा करनी चाहिए। हमारे भविष्य को संवारने का यह बहुत बड़ा हेतु है।

मी

दूबर १९६५

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

३२ : सुलभबोधि बनने का मार्ग (५)

जैन और वैदिक दो प्रमुख भारतीय धर्म हैं। दोनों धर्मों में समानताएं हैं, तो कुछ बातों में भेद भी है। दोनों धर्मों की परंपरा में मूल भेद हैह्वर्ण तथा आश्रमों का। वैदिक धर्म में ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासहइन चार आश्रमों की व्यवस्था है। वैदिक धर्म कहता है कि प्रत्येक मनुष्य जीवन के चार विभाग करे। पहले वह पूर्ण ब्रह्मचारी रहे। दूसरे में गृहस्थ बने। तीसरे में वनवासी चौथे में संन्यास स्वीकार करे। मनुष्य की उम्र सौ वर्ष पचीस-पचीस वर्षों के इन चार आश्रमों की व्यवस्था की

संन्यास और अवस्था

जैन-धर्म को यह आश्रम-व्यवस्था मान्य नहीं है। पहले रहकर गृहस्थ बनना आवश्यक समझा जाए तो संन्यास पक्ष एक हो जाता है। इससे तरुण व्यक्ति इस दिशा में आ ही नहीं सकता। धर्म कहता है कि किसी भी अवस्था में संन्यासी बनने की इच्छा प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता।

हमारे यहां कहा गया हैहतिणि जामाओ। तीन याम याम यानी महाव्रत। महाव्रतों की व्याख्या में तीन, चार और पांच का उल्लेख है। लेकिन तीन और चार में अब्रह्मचर्य तथा चोरी नहीं है। आचारांग में बताया है कि एक अहिंसा ही महाव्रत। सब महाव्रत तो उसके ही पोषक हैं।

याम का अर्थ प्रहर भी होता है और विभाग भी। जैन-धर्म जीवन के तीन विभाग किए गए हैह्वर्ण, यौवन और बुढ़ापे। बचपन आठ वर्ष तक माना गया है। उसके बाद तीस वर्ष प्रौढ़ावस्था को भी बचपन में लिया गया है। साठ वर्ष तक अवस्था और उसके बाद बुढ़ापे। लेकिन इन अवस्थाओं के संधि और संयम को नहीं जोड़ा गया है, क्योंकि संयम का संबंध अ

सुलभबोधि बनने का मार्ग (५)

पेटु आंतरिक विरक्ति से है। अनेक बच्चे जीवन के प्रभात में ही सो जाते हैं। वे संभालकर साधु-जीवन स्वीकार कर लेते हैं। कीचड़ के बाद निकलना मुश्किल हो जाता है, इसलिए वे उसमें फंसना चाहते।

र्ष

एक धर्म ने वर्ण-व्यवस्था भी दी। वर्ण का अर्थ है जाति। **मया सृष्टम्।** चार वर्ण बनाए गए। इन चार वर्णों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र आते हैं। इनमें ब्राह्मणों को सबसे ऊंचा कहा गया। पश्चात क्रमशः क्षत्रिय और वैश्य हैं। शूद्रों का स्थान अंतिम। वर्ण-व्यवस्था में इतनी रूढ़ता आ गई कि जाति से ब्राह्मण होने कोई जगत-पूज्य बन जाता है, भले उसका आचरण शूद्र जैसा हो। ब्राह्मण सामने मिल जाए और उसे व्यक्ति नमस्कार न माने। ब्राह्मण अपराध माना जाता है। इसी प्रकार संरक्षण का दायित्व न शूद्रों पर भी जाति के कारण व्यक्ति क्षत्रिय कहलाता है। व्यापार न शूद्रों पर भी वैश्य व्यक्ति सेठ तथा शाह कहलाता है।

एक वर्णों के अतिरिक्त एक अवर्ण और है। उसमें परिगणित अंत्यज कहलाते हैं। उनको लोक-व्यवस्था से बहिर्भूत माना जाता है। जैन-धर्म ने इस वर्ण-व्यवस्था को भी मान्यता नहीं दी। जैन-धर्म के न मानने पर भी यह परंपरा बंद तो नहीं हुई, लेकिन महत्त्व और प्रभाव कम हो गया। फलतः अनेक ऐसे व्यक्ति तैयार हुए। जन्म के आधार पर किसी को ऊंचा-नीचा मानने का विरोध नहीं है। भारत का संविधान भी जातिवाद को महत्त्व नहीं देता। यह जाति की विचारधारा के सहज संक्रमण का परिणाम प्रतीत होता है। अणुव्रत-आंदोलन जाति और वर्ण के आधार पर किसी को हीन मानने की बात को मान्य नहीं करता। वस्तुतः जाति, वर्ण, अर्थ आदि के कारण न तो कोई ऊंचा होता है और न कोई हीन। इसी धारणा बनाकर चलनेवाला ही अणुव्रती हो सकता है। मानवीय एकता के इस सिद्धांत में विश्वास नहीं होता, वह जाति नहीं बन सकता।

जन्म का तत्त्व है

एक समय था, जब विवाह-शादी के प्रसंग पर सवर्ण-अवर्ण की
— जागो ! निद्रा त्यागो !!

थोड़ी चर्चा होती थी, क्योंकि एक व्यापक व्यवस्था को बहुत कठिन हो जाता है। किंतु अब धीरे-धीरे यह व्यवस्था भी है। अनेक व्यक्ति इससे घबरा जाते हैं। वे सोचते हैं कि हमारा हो रहा है। लेकिन मैं स्पष्ट रूप से कहना चाहता हूं कि वर्ण टूटने से धर्म नष्ट नहीं हो सकता। धर्म इससे जुड़ा हुआ है ही न टूटने की बात बेमानी है। धर्म आत्मा की वस्तु है। जाति, वर्ण इसका कोई सीधा संबंध नहीं है।

भारत की धर्मनीति

भारत इस नीति पर चलता है कि धर्म व्यक्ति की मान्यता किसी धर्मविशेष को राष्ट्रीय धर्म के रूप में मान्यता नहीं देता। नागरिक किसी भी धर्म की उपासना करें, इस विषय में स्वतंत्रता है। यदि भारतवर्ष किसी धर्मविशेष को राष्ट्रीय धर्म के मान्यता दे तो सभी धर्मों की सुरक्षा नहीं हो सकती। वैदिक, मुस्लिम, सिक्ख हों या ईसाई, बौद्ध हों या जैन सब अपने-अपने धर्म का पालन करते हैं। कोई किसी को खलल पहुंचानेवाला नहीं है।

धर्म और राजनीति

हम जानते हैं कि प्राचीन राजाओं के शासनकाल में धर्म का नुकसान हुआ। लाखों व्यक्तियों को खत्म कर दिया गया। वह धर्म कि उन पर धर्म का उन्माद छाया हुआ था। यह धर्म का उन्माद खतरनाक तत्त्व है। इसलिए अपेक्षित है कि धर्म और राजनीति में धर्म को पनपने ही न दिया जाए। इसका तो इतना-सा ही अर्थ कि किसी धर्मविशेष पर राष्ट्र नहीं चलेगा।

जैन-धर्म में वर्ण-व्यवस्था ?

वर्ण-व्यवस्था चल पड़ी तो जैन-धर्म ने भी उसे किसी रूप में मान लिया। पर उस वर्ण-व्यवस्था में हीन-उच्च की कल्पना है। उसमें धर्मसंघ के चार घटकों को चार वर्ण कहा गया है। साधु-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं का परस्पर धार्मिक संयम के आधार पर साधु और श्रावक का विभाजन किया। संपूर्ण संयम का पालन करनेवाले साधु होते हैं और यथाशक्य पालन करनेवाले श्रावक।

सुलभबोधि बनने का मार्ग (५)

एक नेतृत्व

तीर्थंकर जिस प्रकार साधु-साध्वियों के अधिनायक होते हैं, उसी प्रकार श्राविकाओं के भी होते हैं। इसलिए वे चार तीर्थ के नाथ हैं। वे चार ही तीर्थों का आध्यात्मिक पथ-दर्शन करते हैं, नेतृत्व पर यहां एक बात समझने की है। गृहस्थों में कलह, झगड़ा, आदि जो बातें हैं, उनका नेतृत्व तीर्थंकर नहीं करते। मात्र उनमें एकता है, उसका नेतृत्व तीर्थंकरों के हाथों में है। तीर्थंकरों की प्रति में आध्यात्मिक नेतृत्व करने का यह दायित्व आचार्य हैं। गृहस्थों को भी निरवद्य दिशा-दर्शन देने का काम आचार्यों में रखा है। वे आदेश नहीं देते पर निषेध कर सकते हैं। इससे न देने की बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है।

शिष्य ने आचार्य के पास जाकर कहाह 'मैं घर-गृहस्थी में जाता हूं, आपका आज्ञा दें।' आचार्य ने उसको बहुत समझाया और साधु-जीवन जीने की स्थिति में होनेवाली दुर्दशा से परिचित करवाया। शिष्य के साधुत्व की नींव हिल चुकी थी। उसने कहाह 'मैं तो पुत्र का पालन नहीं कर सकता। पर आपके आदेश बिना नहीं।'

आचार्य असमंजस में पड़ गए। वे घर जाने का आदेश कैसे दें? आखिर आचार्य को एक बात सूझी। उन्होंने कहाह 'तुम यदि रखना चाहते हो, तो मैं तुम्हें जबरन रोक कर नहीं रखना पर एक बात मेरी भी मानो कि कम-से-कम वहां तो मत जाना, मांस का व्यवहार होता हो।' शिष्य ने इस कथन को गुरु का मानकर श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार आचार्य एक को भी बुराइयों से बचाने के लिए निषेधात्मक निदेश दे सकते हैं। तीर्थंकर कोई प्रवासी बनकर कहीं जा रहा है। प्रस्थान करने से पूर्व आचार्य के पास जाता है और कहता हैह 'मैं वहां व्यापार करूंगा।' तीर्थंकर कहते हैंह 'देखो, सट्टा मत करना।' यह निषेधात्मक निदेश है। अधिपक्ष के संदर्भ में वे कुछ नहीं बोल सकते।

प्रशस्ति

गुरु द्वारा दिखाए गए मार्ग पर चलने से बहुतों को लाभ होता है। गुरु की दृष्टि के अनुरूप चलता है, वह कहीं भटकता नहीं। शक्ति कितना ही समझदार क्यों न हो, गुरु का दृष्टिकोण

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

समझकर ही चले। अन्यथा कभी भटकाव की स्थिति पैदा हो सके। हालांकि गुरु के पास कोई दंड-व्यवस्था नहीं होती, फिर भी उनमें सब रहना चाहते हैं। इसका कारण यह है कि वे संघ के सदस्य का हित-चिंतन करते हैं। जिस संघ में गुरु-शिष्य के तादात्म्य संबंध रहता है, वह संघ सदा फलता-फूलता रहता है। इसलिए विकास के नए-नए आयाम खोलता रहता है। धन्य है उस संघ जिससे सबको आध्यात्मिक शक्ति मिलती है! ऐसे संघ की गानेवाला सुलभबोधित्व को प्राप्त कर लेता है।

संघ की प्रशस्ति में साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओं की प्रशस्ति समाविष्ट हो जाती है। जहां तक साधु-साध्वी की प्रशस्ति की बात है, इसमें किसी को कोई कठिनाई नहीं है। पर श्रावक-श्राविकाएं पूर्ण संयमी नहीं होते। वे असंयम से जुड़े होते हैं। ऐसी स्थिति में उनकी प्रशस्ति कहां तक उचित है, यह सवाल है। इसका समाधान यह है कि श्रावक का गृहस्थपनह असंयम नहीं है। श्रावकत्व है उसका संयम। उसके जीवन में जितना संयम, त्याग, सत्य है, वह प्रशस्य है और इस अपेक्षा से उनकी प्रशस्ति अनुचित नहीं है।

तीर्थंकर संघ को वंदना करते हैं?

संघ के लिए यहां तक लिखा गया है **हैह्येयंमि पूयते हवैति पूइयाह** संघ की पूजा से सबकी पूजा हो जाती है। संसार में पूजा से बढ़कर दूसरी कोई चीज नहीं होती। इसलिए धार्मिक संघ पूजा जाता है। प्राचीन समय में संघ की पूजा करने की पद्धति थी। इसमें तो यहां तक लिखा गया है कि तीर्थंकर संघ को वंदना करते हैं। यहां वंदना का अर्थ नमस्कार नहीं है, स्तवना या प्रशस्ति है। प्रशस्ति करने से संघ की प्रभावना होती है। इसी प्रकार पूजा का अर्थ नमस्कार नहीं, प्रशस्ति ही है।

देवी-देवताओं का वर्णवाद

सुलभबोधित्व की प्राप्ति का एक हेतु है देवी-देवताओं की स्तवना, प्रशस्ति करना। पर यह कथन सभी देवी-देवताओं की स्तवना नहीं है। इस विवक्षा में मात्र वे देवी-देवता आते हैं, जो ब्रह्मचर्य तप के विपाक से दिव्य गति को प्राप्त हुए हैं। वे देवी-देवताओं की प्रभावक होते हैं; धर्मशासन की समय-समय पर उल्लेखनीय सेवक हैं। सुलभबोधि बनने का मार्ग (५)

क-श्राविकाओं की तरह ही देवी-देवताओं का असंयम, भोग-प्रशस्य नहीं है। प्रशस्य है मात्र उनकी निर्विकार दृष्टि, अभोग-प्रशस्य देखें, जब देवता भगवान के समवसरण में आते हैं, तब भी उनके साथ रहती हैं। पर वहां देवता उनसे कोई हास्य-प्रशस्य नहीं करते। उन पर दृष्टिक्षेप भी नहीं करते। इस संदर्भ से कहें तो यह भी कहना चाहता हूं कि धर्म-क्षेत्र में सभी स्त्री-भ्रातृत्व और भगिनीत्व के संबंध में रहना चाहिए। यह धर्म-मर्यादा है। जहां-कहीं इस मर्यादा का लंघन होता है, वहां धर्म-अधर्म-क्षेत्र बन जाता है, दुराचार का अड्डा बन जाता है। एक जाग्रत और मर्यादित धर्मसंघ है। वह अपने इस गौरव को बनाए रखे, इसी में सबका हित है। हम सबको इस दृष्टि से नग रहना है।

मी

दूबर १९६५

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

३३ : प्रतिसंलीनता

निर्जरा के बारह भेदों में से एक भेद है प्रतिसंलीनता। प्राचीनकाल में बहुत प्रचलित था। परंतु आज इसका प्रचलन हो गया है। कई शब्द ऐसे हैं, जो पहले दुर्गम माने जाते थे, पर बहुत सुगम हो गए हैं। जैसे अणुव्रत शब्द आज बहुत सुगम हो गया है। इस संदर्भ में सुगम-दुर्गम का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। वे जो शब्द बोलने-लिखने में व्यवहृत होते हैं, वे सुगम कहे जाते हैं। अप्रयुक्त शब्द दुर्गम माने जाते हैं।

जैन-तीर्थंकरों का अभिमत है कि सहजता को काम चाहिए। यही वजह है कि उन्होंने संस्कृत को छोड़कर प्राकृत में लिखना शुरू किया। संस्कृत विद्वानों की भाषा थी। जन-साधारण का इसमें कोई हित नहीं हो सकता था। प्राकृत भाषा ग्राम्य भाषा भले ही थी, पर वह जनता की भाषा थी। उस भाषा में सरल-से-सरल शब्दों का प्रयोग किया गया। चूंकि आज हजारों वर्षों के बाद वे फिर जटिल बन गए हैं, इसलिए विशेष व्याख्या मांगते हैं।

खतरा क्या है?

प्रतिसंलीनता शब्द जैन-आगमों में अनेक स्थल पर प्रयुक्त है। प्रतिसंलीनता का अर्थ है गुप्तता। गुप्त का एक अर्थ छिपाना है। पर यहां यह अर्थ अभिप्रेत नहीं है। गूप्हरक्षणे। यानी यहां सुरक्षा का ग्रहण किया गया है। दूसरे के भय से बचने के लिए सुरक्षा की आवश्यकता है। भय है दुष्प्रवृत्ति से पतन होने का। पतन से सुरक्षा आंतरिक सुरक्षा है।

कच्छप और साधु

दसवे आलियं में मुनि को कच्छप से उपमित करते हुए कहा है। **हैहिकुम्भो व्व अल्लीणपलीणगुत्तो।** यहां कच्छप में जो विशेषता है, उससे साधु को उपमित किया गया है। कच्छप अपने अंग-प्रत्यंगों को भीतर रखता है। आवश्यकतावश उन्हें बाहर भी निकालता है, पर प्रतिसंलीनता—

पुनः उनका संकोच कर लेता है। साधु भी आवश्यकतावश मन करे, प्रवृत्ति करे। पर जहां भी बंधन का खतरा हो, कच्छप निश्चल हो जाए, प्रवृत्ति से निवृत्त हो जाए। अरक्षा का भय है? सामान्यतः लोग स्वयं को बाहर से अरक्षित मानते हैं। पर अरक्षा को देखते हैं। यदि व्यक्ति स्वयं सुरक्षित होता है तो अरक्षा का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। इसके ठीक विपरीत स्वयं अरक्षित है तो बाहरी सुरक्षा कोई काम नहीं कर सकती। आत्मगुप्त होना जरूरी है।

प्रतिसंलीनता

इन्द्रिय, मन और योग के साथ प्रतिसंलीनता जुड़ी है। प्रस्तुत में इंद्रिय-प्रतिसंलीनता को समझना है। इंद्रियां पांच हैं—स्पर्शन, श्रवण, चक्षु और श्रोत्र। इन पांचों ही इंद्रियों का उपयोग है, हमारे शरीर में कोई भी अनुपयोगी तत्त्व नहीं है। पांचों इंद्रियां अपने-अपने विषयों का ज्ञान करती हैं। ज्ञान से उपयोगह्विकास का अंत होता है।

तुम कितने काम के हैं, यह अनुभव आप जब-तब कर सकते हैं। उपदेश-वाक्य समय पर लग जाए तो जिंदगी बदल सकती है। एक बहुत सवरे उठकर मरने के उद्देश्य से गहरी नदी के तट पर एक समय अंधेरा था, इसलिए उसको रोकनेवाला कोई नहीं था। उसी समय बिजली चमकी और एक वृद्ध ने उसको देख लिया। उसने उसका हाथ पकड़ा और पूछा—'क्या कर रहे हो?' युवक बोला—'मरूंगा, आप मुझे पकड़ते क्यों हैं?' वृद्ध ने पूछा—'पहले तुम मर क्यों रहे हो?' युवक बोला—'मैं बहुत दुखी हूँ।' वृद्ध ने पूछा—'तुम दुखी क्यों हो?' युवक ने कहा—'मैंने व्यापार किया, उसमें घाटा लग गया।' वृद्ध ने प्रश्न किया—'क्या तुम मरने से दुखी रहे हो?' युवक बोला—'नहीं, मैं पहले बहुत सुखी था। तुम कभी देखा ही नहीं था। अकस्मात् दुख का पहाड़ टूट पड़ा है। तुम खेल नहीं सकता।' वृद्ध ने समझाते हुए कहा—'तुम बहुत बड़ी गलती कर रहे हो। देखो, पहले तुम सुखी थे और अब दुखी हो गए। जब अंत हुआ है तो क्या दुःख का अंत नहीं होगा? दिन का अंत हुआ तो रात्रि का अंत नहीं होगा? तुम्हारे दुख का अंत अवश्य होगा, तुम से नहीं। इस समय मरकर तो तुम अंधकार में ही रहोगे और

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

जीवित रहोगे तो प्रकाश भी मिल जाएगा।’

युवक को वृद्ध की बात में तथ्य नजर आया। वह सोचने जब यहां सुख नहीं है तो आगे सुख कैसे मिलेगा। इस चिंतन आत्महत्या के पाप से बचा लिया। आप देखें, यदि उसके कान तो वह उस पाप से कैसे बच सकता था?

कानों की तरह शेष इंद्रियों का भी उपयोग है। आंखों जगत के विभिन्न पदार्थों, रूपों को देखते हैं। नाक से गंध ले जिह्वा से चखकर तरह-तरह का ज्ञान करते हैं। स्पर्श से भी वि होता है। अतः पांचों इंद्रियों के उपयोग से कोई भी इनकार सकता। किंतु अविवेक से इनका दुरुपयोग भी हो जाता है। पि को उपदेश और शिक्षा सुनने की रुचि नहीं है, वे सिनेमा के मुग्ध हो जाते हैं। जिन आंखों का आकर्षण अश्लील साहित्य के प्रति होता है, वे अच्छी चीज नहीं देख सकतीं। यह इं दुरुपयोग है।

भगवान महावीर ने कहाह ‘इंद्रिय-प्रतिसंलीनता करो।’ इंद्रिय अपने विषयों को ग्रहण करेंगी। उन्हें कैसे रोका जा सकता उन्हें रोकने की अपेक्षा ही क्या है? अपेक्षा तो यह है कि हम उ आसक्ति न करें, विकार भाव न लाएं। कान खुले हैं तो हर शब्द उनमें पड़ सकते हैं। आंखें खुली हैं तो हर तरह के रू सकती हैं। पर मात्र कानों में शब्द पड़ने से और आंखों से को देखने से व्यक्ति का कोई नुकसान नहीं होता। नुकसान तब जब उनके साथ विकार जुड़ जाता है। यदि भीतर विकार से की सुरक्षा है तो कोई इंद्रिय हमारा कुछ भी नुकसान नहीं कर भीतरी रक्षा-पंक्ति दृढ़ होती है तो शत्रुओं के आक्रमण का नहीं रहता।

ध्यान में आंखों की स्थिति

लोग ध्यान के समय आंखें बंद करते हैं। ऐसा क्यों? की चीज सामने आने पर ध्यान जमता नहीं, इसलिए आंखें जाती हैं। लेकिन भीतरी सुरक्षा अच्छी हो तो कोई वजह नहीं ध्यान इधर-उधर जाए। वैसे ध्यान के समय भी आंखों को न ए रखना चाहिए और न एकदम खुली। एकदम बंद करने से सकती है और एकदम खुली रहने से भाव-निद्रा यानी प्रमाद स है। इसलिए **ईषन्निमीलितनयनः**हअधखुली आंखों से ध्यान प्रतिसंलीनता

। नासाग्र दृष्टि का अभ्यास करने से यह स्थिति बन जाती है।
-दर्शन की प्रतिसंलीनता को पातंजलयोगदर्शन में प्रत्याहार
या है। पतंजलि ने योग के आठ अंग बताए हैं-हयम, नियम,
प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि। इनमें पहला
यम। इसमें महाव्रत और अणुव्रत आते हैं। फिर स्वाध्याय, तप
यमों से उनको पुष्ट बनाया जाता है। यम और नियम सध जाने
आसन का क्रम आता है। साधना की दृष्टि से आसनों का बहुत
आसन के बाद प्राणायाम की साधना की जाती है। इसमें
को बहुत अपेक्षा है। विवेक के अभाव में व्यक्ति बहुत बड़ा
उठा सकता है। चलते ही श्वास रोक लेने से बिना मौत मरना
विवेक से श्वासोच्छ्वास को लंबा किया जाए तो परेशानी नहीं
हज प्राणायाम भी हो जाता है और मन भी टिक जाता है।
में मुंह बंद रहे, यह ध्यान रखना जरूरी है। वैसे एक-दो
मुंह खोलकर भी की जाती हैं। पर अधिकतर प्रक्रियाओं में मुंह
का ही विधान है। इसका उद्देश्य है कि सांस नासिका से ही
ए, मुंह से न लिया जाए। प्राणायाम के बिना भी श्वास नासिका
ही अच्छा है। मुंह से श्वास लेना हानिकारक है।
प्राणायाम सीखने के लिए अच्छे शिक्षक का मार्ग-दर्शन मिलना
। जो व्यक्ति स्वतः प्राणायाम करने लगते हैं, वे लाभ के बदले
उठा सकते हैं।

प्राणायाम के बाद पांचवा अंग है-हयप्रत्याहार। **प्रत्याहार-**
प्राणां विषयेभ्यः समाह्वतिः। प्रत्याहार का यह अभिधेय ही
नता है।

प कह सकते हैं कि ये बातें तो संन्यासियों, योगियों के लिए
हैं; हमारे लिए ये किस काम की। पर मैं मानता हूं कि ये बातें
योगियों के लिए ही नहीं, अपितु सबके लिए उपयोगी हैं,
जीवन के लिए अत्यंत आवश्यक हैं। अतः इनका अभ्यास सभी
का चाहिए। अभ्यास से कुछ भी असाध्य नहीं रहता। अभी
के समय अपने बचाव के लिए नागरिकों को कई तरह का
दिया गया। उसके अनुसार अभ्यास भी करवाया गया। यदि
हने के लिए अभ्यास करना आवश्यक है तो आत्मिक स्वास्थ्य
कर्यों नहीं?

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

योग-शिक्षा

इन बातों की शिक्षा बचपन से ही मिलनी चाहिए। बहुत इस भाषा में सोचते हैं कि धर्म की शिक्षा बड़ी उम्र में दी जानी लेकिन वास्तव में इसकी शिक्षा बच्चों को प्रारंभ में ही दी जानी इस शिक्षा के बिना दूसरी-दूसरी शिक्षाएं भी पूरी लाभप्रद न आजकल शिक्षा के क्षेत्र में गति लाने के लिए माटेसरी प विकास हुआ है। अभिभावक अपने बच्चों को इसी पद्धति चाहते हैं। लेकिन योग-शिक्षा के लिए कोई पद्धति नहीं चली है समस्या उलझती जा रही है। मेरा अभिमत है कि योग-व्यवस्थित शिक्षण-प्रशिक्षण के माध्यम से बहुत-सी समस्याएँ सकती हैं।

शांति कैसे मिले?

आज सौ में से लगभग पचानवें लोगों का प्रश्न रहता है कैसे मिले। इंद्रियों और मन को शिक्षित बनाए बिना शांति का की नहीं है। लोग सबसे बड़ी भूल यह करते हैं कि वे शांति सींचते हैं, जड़ को नहीं। इसके परिणामस्वरूप वृक्ष की जड़ नहीं होतीं।

जिस वृक्ष की जड़ें जितनी गहरी होती हैं, वह उतना बढ़ता जाता है, क्योंकि जड़ों से खुराक मिलती है। यदि किसी छोटा रखना है तो जड़ों को काटना पड़ता है। जापान में ऐसे वृक्ष सैकड़ों वर्षों से हैं, पर बहुत छोटे-छोटे हैं। जापानवासियों से ज कारण पूछा गया तो उन्होंने बताया कि हम वृक्ष को ऊपर से काटते, पर जड़ें थोड़ी-थोड़ी काटते रहते हैं। जमीन में जड़ें होने से वे ऊपर भी नहीं बढ़ते।

ऊपर की पढ़ाई चाहे कितनी ही कर ली जाए, पर आ शिक्षा के बिना उसकी जड़ें कमजोर रहती हैं। मूल का विकास ही दूसरे विकास को मार्ग मिलता है। अतः इस दिशा में जागरूकता की अपेक्षा है। शांति का मार्ग स्वतः प्रशस्त हो ज

अस्वाद में स्वाद!

इंद्रियों को शिक्षित बनाने के लिए प्रतिसंलीनता का अभ्यास चाहिए। खाने में स्वादिष्ट पदार्थ हो तो चाव से खाया जात अस्वादिष्ट को समभाव से खाना साधना है। अभ्यास अस्वादिष्ट भी स्वादिष्ट लगने लगता है। मैंने स्वयं अनेक बार प्रतिसंलीनता

सब्जी में नमक न हो तो एक-दो ग्रास अलौने से लगते हैं।
क बाद सहज स्वाद आने लगता है। गेहूं की रोटी को बिना
खाकर देखा है। पंद्रह-बीस बार चबाने पर उसके मिठास का
शेने लगता है। मन में आता है, ये पदार्थ तो सहज स्वादिष्ट हैं,
मारा अभ्यास ही कुछ ऐसा हो गया है कि अस्वाद को स्वाद
मूल स्वाद को दूसरे स्वाद में बदलकर खाते हैं।

गों के भोजन की पद्धति ऐसी अप्राकृतिक हो गई है कि वे
विकृत कर खाना अच्छा मानते हैं। स्वाद के लिए उसके सत्त्व
कर देते हैं। पर यह सुनिश्चित है कि जो लाभ प्राकृतिक भोजन
है, वह विकृत किए गए भोजन में नहीं हो सकता। इस दृष्टि से
गाने की अपेक्षा है, अस्वाद-वृत्ति को विकसित करने की अपेक्षा
अभ्यास करने के लिए हमें प्रकृतिस्थ होना पड़ेगा। प्रकृति में
शरीर स्वस्थ रहता है। पशु बीमार कम होते हैं। इसका कारण
के वे प्रकृति में जीते हैं। प्राचीन काल में मनुष्य भी इतने बीमार
थे, जितने आजकल होते हैं। इसका कारण उनका खाद्य संयम
क था।

अवधारणा बहुत पुष्ट बनाने की अपेक्षा है कि खाना स्वाद के
आवश्यकता के लिए होता है। अतः स्वस्थता के लिए पुनः
आना जरूरी है। किसी समय भारतीय जीवन-शैली इसी पर
थी। पर अब स्थिति बदल गई है। आज विदेशों में इसे बल
है। पश्चिमी राष्ट्रों के लोग प्राणायाम और आसनों के द्वारा
जीवन जीना चाहते हैं। यह पद्धति पश्चिम से जब वापस यहां
तब शायद भारतवासियों को पुनः अच्छी लगने लगेगी।

प्रकृतिस्थ रहने के लिए प्रतिसंलीनता का अभ्यास आवश्यक है।
से वह स्थिति बन सकती है, जब अदर्शनीय रूप और
शब्द के प्रति ध्यान ही नहीं जाएगा। यदि कदाचित चला भी
तो तत्काल मुड़ जाएगा। **भक्खरं पिव ददूणं, दिट्ठिं**
रेहचढते हुए सूर्य को देखने से आंखें स्वतः झुक जाती हैं।
र अभ्यास से इंद्रियां भी अपने अनुचित विषयों से तत्काल मुड़

नी

दूबर १९६५

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

३४ : करणीय और अकरणीय का वि

आयारो में कहा गया है

- अणाणाए एगे सोवहाणा, आणाए एगे नि
- एवं ते मा होउ।
- एयं कुसलस्स दंसणं।

ह कुछ व्यक्ति अनाज्ञा में उद्यम करते हैं और आज्ञा में अर्थात् वे अकरणीय में उद्यमी होते हैं और करणीय में ये दोनों ही बातें गलत हैं। अतः तुम्हारे लिए ये न कुशल का दर्शन है, महावीर का दर्शन है।

जीवन का क्षण-क्षण अच्छे कार्यों में लगे, यह अत्यंत अ गृहस्थों के लिए ऐसा होना बहुत कठिन है। पर साधुओं का ल समय करणीय कार्यों में व्यतीत होता है। हास्य, विकथा, विनोद, आदि मुनि के लिए अकरणीय हैं। हां, थोड़ा हलका और शि चल सकता है। वह स्वास्थ्य में सहयोगी बनता है। उससे ताजगी मिलती है। उदास-उदास रहने से व्यक्ति बीमार हो जा

मूलभूत तत्त्व हैहिविवेक। सोना, हंसना, घूमना आदि र आवश्यक हैं, बशर्ते कि इनको विवेकपूर्वक किया जाए। मुसव बात में मुसकाराना और चिंतन की बात में गंभीर होना विवेक व है। इसी प्रकार किस समय कौन-सा काम किया जाए, इसका विवेकसापेक्ष है। यह बहुत स्पष्ट है कि व्यक्ति के सामने एक नहीं होता। एक काम करते-करते दूसरा काम सामने आ जा उकताए नहीं, बल्कि उसको सहजता से स्वीकार कर ले।

समय है या नहीं ?

मुझसे कई व्यक्ति पूछते हैं कि आपको समय है या नहीं। बहुत व्यस्त रहते होंगे। मैं उनको उत्तर देता हूं कि मनुष्य को रहना चाहिए। मैं एक कार्य में व्यस्त रहता हूं। पर उस काम करणीय और अकरणीय का विवेक—

कोई दूसरा काम सामने आ जाता है तो पहले काम को छोड़कर आगे बढ़ा जाता हूँ। अनेक कार्य सामने आने पर झल्लाना अच्छा नहीं है। काम को शांतचित्त से करते रहना ही गंभीरता का द्योतक है।

दो कामों के तीन रूप हैं—वर्धमान, हीयमान और अवस्थिति। हीनता और अवस्थान—ये तीनों उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के रूप हैं। हर साधक वृद्धि करे, हीनता की ओर चले तथा स्थिर रहे। साधना और साधना से वर्धमान रहे। वासना, कमजोरी तथा विकारों से बचाने और हीयमान-वर्धमान में भी अपने आत्म-स्वभाव में स्थिर रहे। यह क्रम सतत चलता रहे। इससे साधक का जीवन सुखी जाता है।

परिवर्तन

हीन दृष्टि से साधक सदा वर्धमान रहे, कभी हीयमान न हो। इस अवस्थिति नहीं रह सकता। ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय और सेवा में निरत रहना परिमार्जन, संशोधन और विकास करे। परिमार्जन के लिए साधना आवश्यक है। परिवर्तन के लिए बिना परिमार्जन संभव नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में रूढ़ता का आना बहुत संभावित है, फिर चाहे हीनता ही क्यों न हो।

परिवर्तन के सिद्धांत में विश्वास है। प्रयास भी करते हैं, रूढ़ता को मिटाना सहज नहीं है। मैं जब से दीक्षित हुआ हूँ, तब तक मुझे सैकड़ों साधु-साध्वियों की प्रकृति को पहचानने का मौका मिला है। मेरी अनुभूति में उनके मूल स्वभाव में परिवर्तन बहुत कम है और परिवर्तन हुआ है तो मात्र उन्हीं के स्वभाव में, परिवर्तन को अपना लक्ष्य बनाया है।

बनने की प्रक्रिया

सुस्त-से व्यक्ति परिवर्तन में विश्वास नहीं करते। वे अपने वर्तमान अवस्था में तुष्ट रहते हैं, इसलिए कोई लक्ष्य भी नहीं बनाते। ऐसे व्यक्ति परिवर्तन के लिए परिणामोंवाले होते हैं। वे विकास कैसे कर सकते हैं?

सुस्त व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता। पर चुस्त क्या नहीं कर सकता? महावीर एक मनुष्य ही तो थे। वे बनने तो हम क्यों नहीं बन सकते? शर्त एक ही है कि हम उस लक्ष्य का स्वीकार करें, जिस पथ पर चलकर वे महावीर बने। यानी हमें

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

अपनी असत प्रवृत्तियों और रूढ़ विचारों को छोड़ना होगा तथा वर्धमान बनना होगा।

दो प्रकार की प्रकृति

मनुष्य की प्रकृति के दो प्रकार हैं—अच्छी और बुरी। जैन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए अच्छी प्रकृति और क्षुद्र प्रकृति का सजीव चित्रण किया है। सहजतया हर मनुष्य अपनी प्रकृति को अच्छी बनाना चाहता है। किंतु दुर्भाग्यवश उसमें क्षुद्रता भी आती है। जयाचार्य ने दोनों प्रकार की प्रकृतियों के लक्षण बताते हुए कहा है— 'जब मनु मुनि चलते समय बात करे, आहार करते समय बोलने में यतन न करे, पात्रों की सफाई में गलती करे, प्रतिलेखन और प्रमार्जन में ध्यान न दे, अथवा अन्य कोई कार्य अविधि से करे, उस समय आचार्य, समवयस्क या कोई बालमुनि उसे गलती बतलाए तो सहर्ष क्षमा करनेवाला अच्छी प्रकृति का धनी होता है। ठीक इसके विपरीत, जो स्वीकार करने में ननु-नच करे, उसे क्षुद्र प्रकृति का धनी कहेंगे।' वस्तुतः गलती करके उसे स्वीकार न करना दोहरी मूर्खता है।

साधक अपने कार्यों में इतना सजग रहे कि उसे हर करण की स्वयं सूचना मिल जाए। उदाहरणार्थ, किसी को आचार्य पूछना है। पूछने से पहले वह यह ध्यान दे कि मुझे कैसे पूछना है। वह इतना धीरे बोले कि कुछ सुनाई ही न दे और आचार्य को बार बार पूछना पड़े तो आशातना का पाप लगता है। कर्त्तव्यषट्क में लिखा है—

**बाढस्वरेण यत्रेष्टं, जल्पनं बाढमालपेतु ।
मन्दस्थाने तथा मन्दं, वर्तेताज्ञा यथा गुरोः ॥**

ह जहां ऊंचे स्वर में बोलने की अपेक्षा हो, वहां साधक को धीरे से बोले और जहां धीमे बोलने की अपेक्षा हो, वहां धीरे से बोलें (इसमें विपर्यास करनेवाला अविवेक का परिचय देता है।) का सुधार तब होता है, जब मानसिक संकल्प दृढ़ और विवेक पूर्णतः जाग्रत हो।)

विवेकसंपन्न साधक की यह बहुत बड़ी पहचान है। अल्पभाषी होता है। अधिक बोलनेवाला अनर्गल भी बोल सकता है। इससे व्यर्थ ही किसी के दिल को ठेस पहुंच सकती है। मूलभूत कि साधक अपने मन पर नियंत्रण रखे, वाणी का संयम रखे और करणीय और अकरणीय का विवेक

रखे। साधना की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि अविनीत से लगाव रखे और अविनीत से बात भी न करे। अपने संघपति की उतरती-ऊपर अवगुणरूप बात न करे तथा बात-बात में प्रशंसा और धर्म की प्रशस्ति करे। हां, यह प्रशस्ति सहज होनी चाहिए, केवल दिखावे के लिए करने से उसमें कृत्रिमता आ जाती है। साधक के लिए उपादेय नहीं है। यह साधना में गहुत बड़ा सहजता ही साधक को शोभा देती है। हर साधक सहजता से साधना करे, इसी में उसके जीवन की सफलता है।

ती

दूबर १९६५

जागो ! निद्रा त्यागो !!

३५ : दीपावली कैसे मनाएं?

भगवान महावीर का जीवन समन्वय का प्रतीक रहा है। मौन के साथ बोलना और तपस्या के साथ खाना भी मंजूर है। निवृत्ति के साथ सत्प्रवृत्ति और एकत्व के साथ बहुत्व की उपस्थिति थी। वे अनाग्रही थे। पर कहीं-कहीं आग्रही भी थे। वे हर सामंजस्य बिठाते थे। पर असत्य के पक्षपाती नहीं थे।

मुक्ति के विषय में उनकी मान्यता है कि सम्यक ज्ञान, दर्शन और सम्यक चरित्रहइन तीनों की प्राप्ति से ही मुक्ति है। ज्ञान, दर्शन तथा चरित्र तीनों ही एक-एक होकर मोक्ष के द्वार हो सकते। किसी ने कहा कि सम्यक दर्शन से मुक्ति होती है। भगवान महावीर यहां आग्रही बन गए। उन्होंने कहा कि केवल दर्शन से मुक्ति होगी ही नहीं। इसी प्रकार अकेले ज्ञान या अकेले चरित्र से भी मुक्ति होने की बात को उन्होंने सर्वथा नकार दिया।

ज्ञान के तीन प्रकार

सामान्यतः लोग ज्ञान के एक अंग को पकड़कर अपने-आपको प्रमाण मान लेते हैं। पर उन्होंने बताया कि ज्ञान के तीन प्रकार हैं—
१. अनंतधर्मात्मक वस्तु में अनंत धर्मों का स्वीकरण। २. अनंत धर्मों में एक धर्म का आग्रह। ३. अनंतधर्मात्मक वस्तु में एक धर्म का आग्रह नहीं, पर स्वीकरण।

पहला धर्म का प्रमाण है। दूसरा दुर्नय है और तीसरा नय। शब्द सब दर्शनों में प्रसिद्ध है। लेकिन नय और दुर्नय की व्याख्या भगवान महावीर के दर्शन ने दी है।

नय : दुर्नय

नय-दुर्नय की बात हमारे दैनंदिन व्यवहारों में पूर्ण रूप से होती है। मैं प्रमाणपूर्ण बोलता हूं, यह कथन यथार्थ नहीं है। यह है कि मैं नय के आधार पर बोलता हूं। प्रमाण वस्तु का स्वीकार ही दीपावली कैसे मनाएं? —

रता है और नय एकांगी। एक वस्तु की संपूर्ण सत्यता को करने के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है।

सी ने पूछा कि हाथ में क्या है। मैंने कहा कि यह पुस्तक है। सत्य मानेंगे। लेकिन तत्त्वतः यह पूर्ण सत्य नहीं है, सत्यांश है। तत्त्व के अतिरिक्त और जितने पर्याय हैं, उन सबका भी विवेचन है, तभी कथन पूर्ण सत्य होगा, क्योंकि प्रश्न उठाया गया है कि है। उत्तर में सर्वांगीण उत्तर मिलना चाहिए।

तत्त्व के अलावा इसमें पचासों अन्य दृश्य तत्त्व हैं। अनंत रूप हैं। नवीनता है, प्राचीनता है। वाच्यत्व है, अवाच्यत्व है। इन अपने में समेटकर जिस सत्यांश को अभिव्यक्ति मिली है, वह नय

तक में पुस्तकत्व के सिवाय और कुछ नहीं है, यह दुर्नय है, किसी अपेक्षा से यह पुस्तक है। पर अन्य-अन्य अपेक्षाएं भी उनकी उपेक्षा करके तत्त्व का प्रतिपादन करना प्रमाण नहीं है।

चार्य हेमचंद्र ने इन्हीं तीन प्रकारों की चर्चा करते हुए लिखा है

सदेव सत् स्यात् सदिति त्रिधार्थो,
मीयते दुर्नीतिनयप्रमाणैः।
यथार्थदर्शी तु नयप्रमाण-
पथेन दुर्नीतिपंथ त्वमास्थः॥

तीन प्रकारों में नय और प्रमाण को छोड़कर चलें तो कहीं भी नहीं हो सकते, क्योंकि एकांगी आग्रह कार्यशीलता में बाधक है। और श्वेतांबर दोनों जैन हैं। दिगंबर नग्नत्व में विश्वास करते हैं कि सवस्त्र की मुक्ति नहीं होती। इसी प्रकार श्वेतांबर कहते हैं कि आज चूंकि नग्नत्व का विच्छेद हो गया है, इसलिए श्वेतांबर की मुक्ति नहीं होती। मेरी दृष्टि में ये दोनों ही मान्यताएं दुर्नय हैं, इनमें एकांत आग्रह है।

का सूत्र

वान महावीर का अभिमत दोनों के समन्वय से फलित होता है। सूत्र में इसका विवेचन करते हुए लिखा गया है कि साधु उस वस्त्र धारण करे, जब वह समझने लगे कि मेरा शरीर शीत हो तो सहन नहीं कर सकता। जैसे भोजन के बिना शरीर का

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

निर्वाह नहीं होता, वैसे ही वस्त्र धारण किए बिना भी शरीर रह सकता। अतः वस्त्र स्वीकार करे। और जब गर्मी आ जाए, आवश्यकता न हो, तो जीर्ण वस्त्रों का उत्सर्ग कर दे तथा पहने वस्त्रों को समेटकर यत्नपूर्वक रखे। आवश्यकतावश फिर उन वस्त्रों को पहनने के काम में लिया जा सकता है। साधक कभी दो वस्त्र कभी एक वस्त्र रखे और कभी अचेल बन जाए। यह तथ्य समझना प्रतीक है।

पता नहीं कि यह एकांगी आग्रह कहां से आया। आज निर्वस्त्र रहना चाहे तो उसे कौन रोक सकता है? यह ठीक है। की धृति और संहनन जिनकल्पी अवस्था के उपयुक्त नहीं है। बावजूद कोई कहे कि मैं तो ऐसा करूंगा ही तो रोकनेवाला है। कोई साधक निर्वस्त्र रहकर जंगल में विशेष साधना करे बड़ी बात है।

हमारे धर्मसंघ के एक मुनि ध्यान और मौन की विशेष साधना करते हैं। साधना का चौथा महीना चल रहा है। वे किसी से बोल ही नहीं, इशारा भी नहीं करते। व्यक्ति चाहे तो ऐसी दूसरी साधना भी कर सकता है। मुझे लगता है कि विशिष्ट साधना तपस्या को असंभव बताकर बहुत-सी उपलब्धियां खो दी गईं। समय रहते उनकी ओर ध्यान नहीं दिया गया तो संभवतः असाधना नहीं बच पाएंगी।

भगवान ने कहा कि भूख लगे और शरीर चलाना है तो अन्यथा आहार मत करो। इसी प्रकार अपेक्षा हो तो वस्त्र स्वीकार जा सकता है। पर वस्त्र रखने से ही मुक्ति होती है। कथन नहीं है। ठीक इसी प्रकार कपड़े न रखने से ही मुक्ति हो सकती है। कथन भी सत्य से परे है।

धर्मस्थान और आचार्य भिक्षु का अभिमत

धर्मस्थान प्राचीन समय से बनते आए हैं। भिक्षु स्वामी ने दी कि स्थानक मत बनाओ। उनका अभिमत था कि साधुओं को कोई स्थान न बने, स्थान बनाने में साधुओं का हस्तक्षेप न हो। साधु के निमित्त बनने से आधाकर्मी दोष हो जाता है। परंतु लोगों ने पकड़ा कि स्वामीजी ने कहा है कि मकान बनाओ किंतु आज बढ़ती हुई आबादी और शहरी संस्कृति को देखते ही दीपावली कैसे मनाएं? _____

तीव्रता से ऐसा अनुभव कर रहे हैं कि हर क्षेत्र में एक ऐसा स्थान अवश्य होना चाहिए, जहां स्थानीय साधर्मिक बहिन-सामूहिक स्तर पर उपासना, प्रार्थना, चिंतन-मनन आदि कार्य संपन्न में कर सकें। उसके अभाव में ये सारे कार्य सामूहिक स्तर पर असंभव-से हैं।

प्रसंग में कहा जाता है कि हमारे यहां स्थान बनवाने की प्रवृत्ति नहीं है। ठीक है, साधुओं के लिए स्थान बनवाने की पद्धति न थी, न रहेगी, क्योंकि वह उनके आचार के विपरीत है। लेकिन यदि गृहस्थ स्थान बनाते हैं, इसमें सिद्धांत की बाधा नहीं है। स्वामीजी ने विरोध किया, मृग की अपेक्षा थी। चूंकि साधु खुले रूप में अपने लिए मकान बनवाने के लिए इसलिए तीव्र विरोध किए बिना उसका प्रतिकार नहीं हो सकता था। हम जानते हैं कि भगवान के समय भी श्रावकों के उपाश्रय होते थे। अतः अग्रह करना अविवेक है।

और मूर्ति

मूर्तिपूजाक संप्रदाय मूर्तिपूजा करने पर अत्यधिक दबाव देता है और एक लोग मूर्तिपूजा को ही नहीं, मंदिर जाने को भी अनुचित मानते हैं। दोनों ओर से विरोधी दिशाओं में खिंचाव होता है। फलतः संबंध टूट जाते हैं।

मान्यता से एकांगी आग्रह मिथ्यात्व है। मैंने सक्रिय रूप से मंदिर जाने का प्रयास किया है। आवश्यकतावश मैं मंदिरों में भी गया हूं। मंदिर जाने में कोई कठिनाई नहीं है, क्योंकि जाने मात्र से सिद्धांत का उल्लंघन नहीं होता। हम जड़ को जड़ और चेतन को चेतन मानें। जड़ को मानकर पूजा करना भूल है। हम गहराई से देखें तो पाएंगे कि मंदिर, स्थानकवासी, दिगंबर और तेरापंथीहसबके मूलभूत सिद्धांत में भेद मात्र ऊपर की बातों में है। भेद की इन बातों को ध्यान से ज्यादा महत्त्व देने से परस्पर तनाव पैदा होता है। तनाव से हमारा ही नुकसान होता है। अतः मूलभूत सिद्धांतों के अन्तर्गत एकत्व का झंडा फहराएं।

हल करें

संदर्भ में मेरे सामने प्रश्न आता है कि आपकी तैयारी कहां तक तैयारी दो प्रकार की होती है। विरोधी तत्त्वों से लड़ने के लिए तैयारी जहां तक प्रश्न है, मेरी उसमें किंचित भी अभिरुचि नहीं है।

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

दूसरी तैयारी होती हैहसमन्वय साधने की। वह सदा थी, आज भी है और सदा रहनी चाहिए। अतः हम दूसरों से कुछ अपेक्षा को पहले स्वयं भी त्याग करने के लिए तैयार रहें।

जैन-एकता और संवत्सरी

जयपुर में जैन-एकता को लेकर एक गोष्ठी हुई। सब संवत्सरी प्रतिनिधि उसमें उपस्थित थे। गंभीर चिंतन के बाद 'संवत्सरी हो'हइस आशय का प्रस्ताव पारित हुआ। तदनंतर एक अच्छे भाई ने मुझसे प्रश्न कियाह'पंचमी को ही संवत्सरी हो, यह आशय क्यों करते हैं?'

उसको समाहित करते हुए मैंने कहाह'हमें पंचमी का आशय पहले था और न आज भी है। आगमसम्मत तथा सर्वसम्मत पंचमी तय हो जाए, उसे मान्यता देने में हमारी कोई कठिनाई नहीं है। सर्वसम्मत तिथि चतुर्थी हो तो भी हमें कोई आपत्ति नहीं है। जहां आग्रह से बातें होती हैं, वहां काम नहीं होता। हम क्यों पंचमी हैं कि धरती का बीच यही है?'

मैंने उस भाई से आगे कहाह'चतुर्थी को संवत्सरी हम मान्य करते भी हैं। हमारा संघ तिथियों की उलझन में उलझा हुआ है। पर हम वह बात कभी स्वीकार नहीं करेंगे, जो आगमविरुद्ध है। मेरा विश्वास है कि कोई भी हमें ऐसा करने के लिए बाध्य करेगा।'

अस्तु, समन्वय के लिए पहले हम उन बातों को लें, जिन पर मतभेद नहीं है। फिर शाब्दिक उलझन-भरे तत्त्वों पर चिंतन व अंत में मूल मतभेदों पर विचार करें। जिन विषयों पर जहां तीव्र मतभेद है, उसे भी शालीनतापूर्वक और संयत भाषा में रखें। यह अपेक्षित है। इससे एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने में सहयोग मिलता है।

इन पंद्रह-बीस वर्षों की अवधि में हमने समन्वय की दिशा में बढ़ावा दिया है। प्रारंभ में सबको संदेह था। यह अस्वाभाविक भी था क्योंकि भविष्य आंखों से ओझल होता है। पर वह संदेह दूर हो गया है।

इस परिप्रेक्ष्य में एक आशंका हमारे संघ के लोगों की है। इससे संघीय दृष्टि से बहुत नुकसान होगा। पर अतीत का सिंहासन दीपावली कैसे मनाएं?—

ऐसा लगता है कि इन वर्षों में हमने संघीय दृष्टि से अपना कुछ खोया है, बल्कि दूसरों को अपने निकट किया है, विरोधियों को या है। जो लोग हमारा नाम सुनकर चौंकते थे, वे अब परोक्ष प्रशंसक बन रहे हैं।

एक प्रतिनिधि मंच

जैनों की एक संस्था है *हैहभारत जैन महामंडल*। उसने समन्वय की प्रयास किया है। हालांकि लोगों की सांप्रदायिक भावना के इस संस्था के प्रतिनिधियों को बहुत कुछ सहना पड़ा है, तथापि लक्ष्य पर अडिग रहे, इस बात की मुझे प्रसन्नता है। उनके प्रति मैं आज भी गहरा स्थान है।

लोग जैनों का एक प्रतिनिधि संगठन बनाने की बात सोच रहे कि कोई नई संस्था खड़ी करने का हमारा इरादा नहीं है। यदि *महामंडल* ही प्रतिनिधि मंच बन जाए तो सहज रूप में अच्छा सकता है।

और जैन-धर्म गौण क्यों?

जिस किसी भी सभा में राजनीतिक नेता लोग भाषण देते हैं तो वे मुहम्मद, मुहम्मद और गांधी का नाम लेते हैं। सिक्ख धर्म और धर्म की बातें कहते हैं। पर भगवान महावीर और जैन-धर्म पर गौरव नहीं छिड़ता। हालांकि वे सोद्देश्य जानबूझकर ऐसा कर रहे हैं, गौरव नहीं है। इसमें सबसे बड़ी गलती हम जैनों की है। हमने जैन-धर्म के सिद्धांतों और भगवान महावीर को व्यापक नहीं बनाया। भगवान को जैनों का योगदान भी कम नहीं है। उनका सत्त्व और शक्ति निश्चित ही महत्वपूर्ण हैं। पर योजक के अभाव में कोई भी गौरवनाबद्ध नहीं हो सका। यह हमारी स्वयं की कमजोरी है। इसका समाधान दूसरों पर करना उचित नहीं है।

कैसे मनाएं?

जैन दीपावली है। यह पर्व अत्यंत उत्साह के साथ मनाया जाता है। के दिन आमोद-प्रमोद के विविध साधन जुटाए जाते हैं। दीपों के द्वारा अंधकारमयी रात्रि को प्रकाशयुक्त बना दिया जाता है। जैन धर्म का निर्वाण तमोमयी रात्रि में हुआ था। देवताओं ने रत्नों का प्रकाश दिया। उन रत्नों की ज्योति में देह-संस्कार की सब तैयारियां हुई

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

थीं। अब रत्नों के स्थान पर दीप और बत्तियां जलाई जाती हैं। हमारे लिए यह दिन केवल बाह्य प्रकाश का नहीं है, क्योंकि बाह्य प्रकाश केवल कृत्रिमता और परंपरा है। इस प्रकाश से भी अधिक आत्म-प्रकाश का। आत्म-प्रकाश के सामने कृत्रिम प्रकाश तो फीका-फीका प्रतीत होता है। अतः हमें उसी प्रकाश के लिए सच्ची तीव्रता लानी है।

आज का दिन हमारे लिए प्रसन्नता का भी है और उदासी का भी। प्रसन्नता इसलिए है कि आज हमारे इष्टदेव सिद्ध बने थे, सब क्षय कर निर्बंध बने थे। वे हमसे छूट गए, दूर हो गए, जैन-सूर्य अस्त हो गया। इस बात की उदासी है। पर यह बहुत महत्व की बात नहीं है। महत्व की बात यह है कि इस दिन को कैसे मनाना है। आमोद-प्रमोद को गौण करके चिंतन-मनन में समय लगाना है। रात्रि में धर्म-जागरणा की जाए। भगवान का भजन किया जाए। को समझने तथा जीवन में उतारने का पुनः संकल्प किया जाए। भगवान की भाव-पूजा है। यही सच्ची दीपावली है।

नई दिल्ली

२४ अक्टूबर १९६५

दीपावली कैसे मनाएं? _____

: इंद्रिय-विजय ही वास्तविक विजय है

की सफलता का आधार

आचार्य सोमप्रभ ने अपने सूक्तिमुक्तावली नामक काव्य में लिखा है

मौनमगारमुञ्जतु विधिप्रागल्भ्यमभ्यस्यता-
तस्त्वन्तर्गणमागमश्रममुपादत्तां तपस्तप्यताम्।
पुञ्जनिकुञ्जभञ्जनमहावातं न चेदिन्द्रिय-
जेतुमवैति भस्मनिहुतं जानीत सर्वं ततः॥

अधिक कितनी ही साधना क्यों न करे, वह तब तक सफल नहीं होता, जब तक आत्म-नियमन की बात नहीं जानता। हम जानते हैं कि स्वतंत्रता के लिए कितनों को शहीद होना पड़ता है। सुख-ठुकराकर विपत्ति झेलनी पड़ती है। यहां समझने की बात यह है कि स्वतंत्रता भी जब इतनी कठिनाई से मिलती है, तब आंतरिक तो इससे भी अधिक कठिन है। इसीलिए आचार्य ने कहा है कि मनुष्य मौन करे, घर छोड़े दे, आचार-पालन में सजग रहे, जाकर रहे और आगमों का अनुसंधान करे, किंतु पुण्य-समूह करनेवाली इंद्रियों को जीतना नहीं जानता है तो ये सब बातें आहुति देने के समान निष्फल हैं।

जानते हैं, केवल मौन ही तप नहीं है। वृक्ष चेतनाशील हैं। पर पतलते हैं? कई जन्मना मूक मनुष्य भी होते हैं। यदि मौन ही तप नके सदा तपस्या ही है।

को छोड़ देना भी बड़ी बात नहीं है। बहुत-से प्राणी हैं, जो बनाते ही नहीं हैं। पशु यों ही घूमते रहते हैं और आजकल तो टी-सी बात पर घर छोड़ देना व्यक्ति के लिए सामान्य-सी बात है। अतः इसका भी महत्त्व नहीं रहा है।

आचार-पालन में निपुणता है। करणीय कार्यों में थोड़ी भी

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

लापरवाही नहीं है। प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, स्वाध्याय, जप, ध्यान, यथासमय होते हैं, तथापि मुक्ति नजदीक नहीं होती।

अभव्य जीव अनंत बार साधुत्व की संपूर्ण द्रव्यक्रिया करता है, तथापि वह अनंतानंत जन्मों में भी मुक्त नहीं होता, क्योंकि उसकी योग्यता ही नहीं है। जैसे आक की लकड़ी से पल्लयंक नहीं बनता, उसी की लकड़ी से कुर्सियां और कपाट नहीं बनते, वैसे ही अभव्य जीव साधु नहीं होती। अभव्य जीव साधु बनकर क्रिया बराबर करता है, उद्योग करता है, पल-पल सजग रहता है। पर पूर्वी तक भी की गई वैसी क्रिया तपस्या निरर्थक है। उसकी अंतरात्मा में साधुत्व तो क्या, सम्पूर्ण मुक्ति नहीं आता। ऐसे भव्य जीव भी हैं, जिनके अंतर में धर्म गम्य नहीं आता वे भी नियमित रूप से क्रिया करने पर भी रीते रह जाते हैं। बुरा आचार बुरा नहीं होता। किंतु वह आचार बाह्याचार बन जाता है, बाह्याचार रूढ़ि है। हालांकि सारा बाह्याचार बुरा ही नहीं होता, अच्छा भी हो सकता है, बशर्ते कि भीतर में विवेक जाग्रत हो जाय। रूढ़ियां भी जीवन का पथ प्रशस्त कर देती हैं। रूढ़ता का अर्थ है, पर जो मनुष्य अपने लक्ष्य का निर्णय किए बिना उस क्रम को नहीं करता है, वह अरहट्ट घटी न्याय को सार्थक करता है।

कोई मनुष्य कोलाहलशून्य घने जंगल में जाकर ध्यान करता है, मनुष्य की आकृति भी न देखे, घंटों और प्रहरों तक एकांत में रहता है, भी वह मोक्ष के नजदीक नहीं पहुंचता।

कोई व्यक्ति आगम-अनुसंधान का काम करता है। अपना उसी काम में लगा देता है, तथापि साधना व्यवहार्य नहीं होता। तपस्या में संलग्न रहता है। चार दिन, पांच दिन, बीस दिन, एक महीना, मास-खमण, छहमासी आदि-आदि तपस्याएं करता है। लेकिन इंद्रियों पर नियंत्रण नहीं रख सकता तो उसकी ये तपस्याएं फल नहीं होतीं। उसके लिए ये पांचों इंद्रियां पुण्यपुंजरूप उद्यान को खत्म करने के लिए प्रलयकाल की हवा के समान हैं। और बहुत गहरे में तो जाय, जितनी हानि नहीं होती, उतनी इंद्रियों के अनियंत्रण से हो सकती है। इसके कारण आत्मा कर्मों से क्रमशः भारी होती जाती है।

इंद्रिय-विजय का मूल्य

यदि इंद्रियों पर विजय पा ली जाती है तो उपर्युक्त संपन्नता कार्यकर हो जाती है। एक की संख्या पीछे है तो आगे लगे संपन्नता इंद्रिय-विजय ही वास्तविक विजय है।

ना बन जाते हैं। अन्यथा मात्र शून्य रह जाते हैं। अतः इंद्रिय-
महत्त्व हर व्यक्ति को समझना चाहिए।

बात मैं मात्र श्रद्धालु भक्तों से नहीं कहता, आत्मा-परमात्मा में
करनेवालों को ही नहीं सुनाता, अपितु घोर नास्तिकों से भी
मैं मानता हूँ कि उपासनारूप धर्म को भले कोई माने या न
पर सहज धर्म सब को स्वीकार करना होगा। इंद्रियों पर
की बात सबको सीखनी होगी। अन्यथा जीवन सुख और
नहीं बन सकता।

ई कोर्ट के चीफ जस्टिस डॉ. वांचु ने एक दिन कहाह 'मुझे
एक बात बहुत अच्छी लगी। आप कहते हैं कि कोई व्यक्ति भले
कार की धार्मिक उपासना करे या न करे, पर अपने पर नियंत्रण
ह स्वनियमन की बात सबके समझने की है। इसके अभाव में
खदायी बन जाता है; अभिशाप बन जाता है, बल्कि एक
तो वह चल भी नहीं सकता। आत्म-नियंत्रण से जीवन
बनता है। वह सही ढंग से जिया जाता है। वस्तुतः आत्म-
जीवन ही सच्चा जीवन है।

क्यों पैदा होते हैं?

आत्म-नियंत्रण के अनेक फलित हैं। उसका एक फलित हैह
न। आत्म-नियंत्रण करनेवाला जहां तक बन सकेगा, परावलंबन
का प्रयास करेगा, स्वावलंबन का जीवन जीने का अभ्यास
हाथ से काम करने में कोई शर्म महसूस नहीं करेगा। जहां हाथ
करने में शर्म महसूस करने की स्थिति होती है, वहां व्यक्ति के
अनेक अनावश्यक कठिनाइयां खड़ी हो जाती हैं; स्वयं का जीवन
ए भारभूत-सा हो जाता है।

क कहीं जा रहा था। गर्मी का मौसम था। मार्ग में उसे तेज
ग गई। उसने इधर-उधर पानी की खोज की। थोड़ी दूर पर
उसे एक कुआं दिखाई दिया। वह वहां गया। संयोग से कुएं की
बाल्टी और रस्सी भी पड़ी थी। पर कठिनाई यह हो गई कि
काले कौन। वहां कोई दूसरा व्यक्ति तो था नहीं। वह किसी
झीर की प्रतीक्षा में वहीं बैठ गया। थोड़ी देर पश्चात पानी की
में एक दूसरा युवक वहां पहुंच गया। उसने पूछाह 'क्यों भाई!
पानी है? मुझे बहुत तेज प्यास लगी है।' पहले युवक ने

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

कहाह 'हां, बहुत पानी है। आओ, पानी निकाल लो। तुम भी पानी और मुझे भी पिला दो।' समागत युवक ने पूछाह 'भाई! बाल्ट रस्सी भी है, फिर तुमने पानी निकाल कर क्यों नहीं पिया?' युवक बोलाह 'भाई! क्या बताऊं, मेरी एक कठिनाई है। मैं अपने काम नहीं करता, क्योंकि शाहजादा हूं।' छूटते ही वह समागत बोलाह 'भाई! हाथ से काम नहीं करने की बीमारी तो मुझे भी शाहजादे हो तो मैं नवाबजादा हूं।'

अब वे एक से दो हो गए। दोनों वहां किसी तीसरे व्यक्ति की प्रतीक्षा करने लगे। कुछ समय बीता और एक तीसरा युवक पहुंचा। वह भी प्यासा था। उसने पहले बैठे दोनों युवकों से पानी के बारे में जिज्ञासा की। पूछने के साथ ही दोनों एक साथ बोल पड़े 'बहुत पानी है। तुम भी पीओ और हमें भी पिला दो।' नवागंतुक युवक वहां बैठे दोनों युवकों से पूछाह 'तुम दोनों प्यासे हो, फिर तुम पानी निकालकर क्यों नहीं पिया?' पहले युवक ने कहाह 'भाई मैं शाहजादा हूँ इसलिए अपना काम हाथ से नहीं करता।' दूसरे ने कहाह 'भाई मैं अमीरजादा हूँ, इसलिए मैं भी अपना काम अपने हाथ से नहीं करता, क्योंकि नवाबजादा हूँ।' दोनों युवक सुनकर तीसरा युवक बोलाह 'क्षमा करो, यह समस्या तो मेरे सामने है। मैं अमीरजादा हूँ, इसलिए मैं भी अपना काम अपने हाथ से करता।' बैठे दोनों युवकों ने उसांस छोड़ते हुए कहाह 'ठीक है, यहां बैठ जाओ। कोई अन्य राहगीर आएगा तो उससे पानी निकाल कर पिंएंगे।'

तीसरा युवक भी वहां बैठ गया। अब तीनों किसी अन्य व्यक्ति के आने की प्रतीक्षा करने लगे। संयोग से थोड़ी ही देर पश्चात एक युवक पानी की तलाश में वहां आ गया। उसके द्वारा पानी के बारे में जिज्ञासा करने पर बैठे तीनों युवकों ने कहाह 'बहुत पानी है। पानी निकालने की व्यवस्था भी है। पानी निकालकर तुम भी पानी पीओ और हमें भी पिला दो। हम भी बहुत प्यासे हैं।'

उनकी बात सुनकर उस आगत युवक ने साश्चर्य पूछाह 'तुम मौजूद है, पानी निकालने की व्यवस्था प्राप्त है, फिर तुम लो पानी क्यों बैठे हो?'

तीनों युवकों ने क्रमशः स्वयं को शाहजादा, नवाबजादा और अमीरजादा बताते हुए हाथ से काम करने की कठिनाई बताई।

इंदिय-विजय ही वास्तविक विजय है

इस युवक ने बाल्टी से पानी निकाला, भरपेट पिया और शेष पानी पर डालकर चुपचाप वहां से रवाना होने लगा। उसके इस को देखकर, तीनों युवक एकदम बोलेहूँ‘अरे भाई! यह क्या! पानी पी लिया और हमें नहीं पिलाया। ऐसा क्यों? बाल्टी में पानी बचा हुआ था। उसे गिराने की अपेक्षा हमें पिला देते।’

थामकर वह युवक क्रमशः उन तीनों के अभिमुख होकर म शाहजादे हो, तुम नवाबजादे हो और तुम अमीरजादे हो, अपना काम अपने हाथों से नहीं कर सकते। अब मेरा भी सुन लो। मैं हरामजादा हूँ। मैं अपना काम तो करता हूँ, पर नहीं करता।’ और ऐसा कहता हुआ वह अपने पथ पर

तीनों युवक मुंह ताकते रह गए।

ओ! यह एक कहानी है। सभी कहानियां सच्ची नहीं होतीं। यह भी न हो। पर सच्ची न होने के बावजूद इसमें जो मर्म वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः हाथ से स्वयं का काम न करने में शर्म महसूस करना, उसे अपनी प्रतिष्ठा का सवाल अच्छी वृत्ति नहीं है। दूसरे शब्दों में कहूं तो यह एक प्रकार से दरिद्रता है। आज तो युग भी ऐसा आ गया है, जिसमें इस मनोवृत्ति चल नहीं सकती। भगवान महावीर ने कहाहूँ‘अहिंसक तो किसी पर हुकूमत मत करो, किसी को दास मत बनाओ, शीन मत करो।’ वस्तुतः व्यक्ति के हाथ-पैर ही उसके नौकर हैं। म लेने में शर्म कैसी?

इसका यह अर्थ नहीं कि हरामजादा की मनोवृत्ति अच्छी है। वृत्ति भी अच्छी नहीं है। भले अच्छी न हो, किंतु जहां अपने काम करने में शर्म महसूस की जाती है, उसे प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा न बनाया जाता है, वहां प्रतिक्रियास्वरूप हरामजादे आपने-आप जाते हैं। उन्हें रोका नहीं जा सकता। यदि आप इस वृत्ति को खरना नहीं चाहते तो आपको स्वावलंबन को अपनाना होगा; नियंत्रण और आत्म-नियंत्रण के सूत्र को स्वीकार करना होगा।

भी

दूबर १९६५

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

३७ : ग्रंथि-प्रतिलेखन का दिन*

आज मेरा जन्म-दिवस है। जीवन के इक्कावन बसंत पूर्ण बावनवें वर्ष में प्रवेश कर रहा हूँ। यह दिन आपके लिए भावना का है और मेरे लिए भीतर जाने का। हमारे धर्मशास्त्रों में इक्कावन प्रतिलेखन का दिन कहा गया है। एक वर्ष में एक गांठ नई लगे उसके साथ पिछली गांठों का प्रतिलेखन भी आवश्यक है। ३७ अपने जीवन की इक्कावन ग्रंथियों का प्रतिलेखन करना है। पि बीकानेर में मैंने जैन-समन्वय की बात रखी थी। उसके मुख्य तीन

- संवत्सरी पर्व एक हो।
- जैनों का एक प्रतिनिधि-संगठन हो।
- भगवान महावीर की पचीसवीं निर्वाण-सदी मिलकर म

जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा ने इस कार्य के प्रसार उठाया। हमने अपने ढंग से इस कार्य को गति देने का प्रयत्न आज इस कार्य को विशेष गति मिलनेवाली है, यह जानकर मैं खुश हूँ। अभी इस कार्यक्रम के बाद ही दरियागंज में स्थित श्रमणसंघ के आचार्य आनंददत्तपिजी, दिगंबर आचार्य देशभूषण मैंहतीनों आचार्य मिलेंगे तथा समन्वय के बारे में सोचेंगे।

बदलती मानसिकता

मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि इन दिनों हमारा दृष्टिकोण बना है। जिज्ञासा का भाव प्रबल हुआ है। मुझे यह कहते को नहीं कि कभी हमारा चिंतन यह था कि हमें कुछ भी जानने की नहीं है, किसी से जानने की जरूरत नहीं है। पर इन मानसिकता में तेजी से बदलाव आया है। हम अपनी अपूर्व गंभीरता से अनुभव कर रहे हैं। पूर्व मानसिकता के कारण जि

*बावनवें जन्म-दिवस पर प्रदत्त प्रवचन।

पता थी, वह कुछ कम हुआ है। दूसरे शब्दों में दुस्साहस करने में समाप्त हो रही है।

जकल हम जैन-आगमों का मूल पाठ मिला रहे हैं। हमें एक शक्ति मिली है, जिसमें बुद्ध, वेद, चैत्य आदि शब्दों को हटाकर जैन पर जिन, पूर्व आदि शब्दों को रखा गया है। किसी मुनि ने इस किया है। हमारे मन में भी ऐसा विचार आ सकता था। सब लगता है कि यह दुस्साहस है। ऐसा दुस्साहस करने की मारी नहीं है। हम सही स्थिति में आ रहे हैं।

का विकास

अहिंसा की साधना में हम सब लगे हुए हैं। किसी को न मारना या न पहुंचाना अहिंसा के इस दृष्टिकोण का काफी विकास हुआ है। मैं मानता हूँ कि इस क्षेत्र में और विकास की अपेक्षा है। संकलेश ही नहीं, असत शब्द बोलना और असत चिंतन करना है। मेरे मुंह से यदि किसी व्यक्ति के प्रति ऐसे शब्द निकल जायें जिनके कारण उसे दुःख होता है तो मुझे अनुताप होता है। जब तक मेरे मन को पुनः हलका नहीं कर देता हूँ, तब तक मेरा मन रुकता है। मैं मानता हूँ कि यह अहिंसा की साधना में गति है।

कार्य

सामने चार प्रमुख कार्य हैं, जिन्हें मैं अपना लक्ष्य मानता हूँ। १. साहित्य-साधना २. समाज-शुद्धि ३. समन्वय-साधना।

साहित्य में सर्वोपरि कार्य है आगमों का। समाज-शुद्धि का माध्यम है जैन-समन्वय की दृष्टि से मैंने प्रारंभ में तीन सूत्रों की चर्चा-साधना में ध्यान, योगासन आदि का अभ्यास करना है।

श्री जैनैन्द्रजी ने कहा, आप व्यक्तिशः नहीं चलते, संघ को अपने लिए चलते हैं। मैं चाहता हूँ, ये चारों कार्य भी चतुर्विध संघ में चलें। तभी हम सफल हो सकेंगे। यह वर्ष पिछले वर्ष से भी कार्यकारी हो, विश्व और संघ के लिए आशास्पद हो, यही मेरी

।

मी

दूबर १९६५

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

३८ : विघटन और समन्वय

हम पुरुषार्थवादी हैं। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ हमारी आस्था है। इसी आस्था के साथ हम आगे-से-आगे बढ़ते हैं। हालांकि हमने जो काम किया है, वह बहुत कम है। उसकी पूर्ति करना बहुत अधिक अवशेष है। अतः अनवरत काम करना अपेक्षित है। पुरुषार्थ करना अपेक्षित है। काम करने के बाद उसे बतानेवाले मिलते हैं, पर निष्ठापूर्वक काम करनेवाले कम होते हैं। हर कार्य यह सोचना चाहिए कि वह अपनी शक्ति का सुमचित उपयोग करे। इससे वह स्वयं तो लाभन्वित होता ही है, साथ ही दूसरों को भी मिलता है।

समन्वय की दिशा में एक कदम

अपने पिछले जन्म-दिवस पर मैंने जैन-एकता के परिप्रेक्ष्य में कल्पना रखी थी। वह दूसरे वर्ष में ही आकार लेकर आई है। इसके संदर्भ में समन्वय का यह जटिल प्रश्न इतना शीघ्र और आसान समाधान की राह खोजने लगेगा, ऐसा किसी ने नहीं सोचा था।

सब जैनों की एक सर्वमान्य संवत्सरी के प्रसंग में कुछ वर्षों पहले कहा कि दिगंबरों को साथ न लिया जाए, क्योंकि वे तो संवत्सरी मानते ही नहीं। लेकिन हमने कल देखा कि दिगंबर आचार्य देवदत्त हिम्मत से इस तथ्य को स्वीकार कर रहे हैं कि पर्युषण का अर्थ ऐसा हो, जिसे सबकी मान्यता मिले।

एक दिगंबर भाई के द्वारा अनंत चतुर्दशी की बात कहे उन्होंने कहा कि अनंत चतुर्दशी के महत्त्व की बात ठीक है। पर सभी भी अपने-अपने धंधों में लगे रहते हैं, छुट्टी भी नहीं होती। दिन का सामूहिक महत्त्व क्या है?’

किसी ने मुझसे कहा कि संवत्सरी के लिए पंचमी की विघटन और समन्वय—

मिल भी जाती है, फिर भी एकरूपता नहीं आ सकेगी। हम तो सोचेंगे। इस विषय में गंभीरता से सोचा गया है। उपासना-पद्धतियों की भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए इसको इस क्षेत्र से बाहर रखा गया है। तब सब अपनी-अपनी उपासना के लिए सावकाश हैं। पर एक महत्त्व अवश्य मिलना चाहिए।

किसी तिथि को महत्त्व मिले, इसमें किसी भी संप्रदाय को क्या कहा जा सकती है? फिर आठ दिन या दस दिन, जो जैसा चाहे, वैसा ही बात औरहयदि दिगंबर समाज पंचमी को स्वीकार करता है तो भी अनंत चतुर्दशी को धर्मतिथि के रूप में महत्त्व देंगे।

किसी अन्य बात की ओर ध्यान देना भी अत्यंत आवश्यक है। तीनों की मान्यता एक होने पर भी, उनकी पीछे जो बड़े-बड़े समाज हैं, उन्हें समझाने का दायित्व भी उन्हीं पर रहेगा। दिगंबर समाज बड़ा समाज है। श्वेतांबरों का भी समाज छोटा नहीं है, बल्कि बड़ा है। उसमें मूर्तिपूजकों का कोई प्रतिनिधि यहां नहीं है। जैनपंथी और स्थानकवासी जब इसे स्वीकार करते हैं, तो वे भी इस बिंदु पर गंभीरतापूर्वक एवं सकारात्मक दृष्टि से सोचें चाहिए।

नंदरियागंज में हम तीन आचार्यों की जो परिचर्चा हुई, उसमें शामिल नहीं थे। आचार्यों ने परस्पर परामर्श किया। एक घंटे के बाद से जो परिणाम आया, वह सबको सुना दिया गया। निष्कर्ष यह कि जैनेंद्रजी ने कहाह 'जो तय हुआ है, उसे लिपिबद्ध कर देना चाहिए और यह बात आज ही सभी जैन-पत्रों में आ जानी चाहिए।'

जैनेंद्रजी का यह प्रस्ताव सबको उचित लगा। उसे लिपिबद्ध करने के लिए भी गृहस्थों को नहीं रखा गया। मुनि नथमलजी (आचार्य) ने लिखना शुरू किया। आचार्य आनंदऋषिजी ने कहाह 'इसकी प्रकृति ऐसी हो, जो किसी की न्यूनता-अधिकता न बताए तथा संक्षेप में बात भी आ जाए।'

लिखने के बाद उसे पढ़कर सुना दिया गया और वह सर्वसम्मति से स्वीकार हो गया। आचार्य आनंदऋषिजी तथा देशभूषणजी को वह पत्र पढ़ने के लिए कहा गया तो उन्होंने कहाह 'आपने जो पत्र पढ़ने के लिए कहा है वह ठीक ही है।' इसके बावजूद सबके आग्रह करने पर उन्होंने

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

व्यक्तिशः पत्र को पढ़ा और अपनी स्वीकृति दे दी।

परिचर्चा के फलित को प्रकाश में लाने से पहले पत्रकारों के मूर्तिपूजकों के आचार्य को यह बताना उचित समझा गया। यदि वे सहमत होते हैं, तब तो बहुत शुभ है, अन्यथा उनके विचार भी आ जायें और उन पर भी चिंतन कर लिया जाए, ऐसा निर्णय

रास्ता बन गया है

उस अवसर पर मैंने कहाहूँ 'अभी तक काम कुछ नहीं हुआ है। काम करने का रास्ता बन गया है।' शताब्दियों में यह पहला है कि तीन बड़े-बड़े संप्रदाय के आचार्य अत्यंत सौहार्द से मिले। उनकी बातचीत में एक क्षण भी ऐसा नहीं आया, जिसमें असह्य भावना व्यक्त हुई हो।

अब मैं चाहता हूँ कि कोई भी व्यक्ति इस समन्वय के विघटन प्रयास न करे। किसी को कोई आशंका हो तो वह हमारे समन्वय लेकिन आम जनता में उसकी चर्चा करके भ्रांति न फैलाए। शताब्दियों विघटित तत्त्व को सुघटित और सुनियोजित करने में भी समय अतः हम सभी इस पुण्य कार्य के लिए एकजुट हो जाएं।

नई दिल्ली

२७ अक्टूबर १९६५

विघटन और समन्वय

३९ : अणुव्रतों की भूमिका*

अणुव्रत का सोलहवां अधिवेशन उत्साहपूर्ण वातावरण में चल रहा लग रहा है कि जनता कुछ पा रही है और पाने को उत्सुक भी कार्यक्रम आशंका और निराशा के धुंधले वातावरण में प्रारंभ हुआ आज एक संभावना की दृष्टि से देखा जा रहा है। लगता है, भूमिका तैयार हो गई है।

एक सामान्य बात है कि कार्य शुरू करने के पश्चात यदि उसमें निराशा मिलती जाए तो व्यक्ति का दिल टूट जाता है। इसके आशा से दिल बढ़ता है। पूछा जा सकता है कि ऐसा क्यों होता है? समाधान बहुत स्पष्ट है। सब वीतराग नहीं होते। **कर्मण्यवाधि-मा फलेषु कदाचन** के सिद्धांत में विश्वास करके नहीं चलते। सामान्य लोगों को आशान्वित करना आवश्यक हो जाता है।

पा रहा हूँ

अनुभव होता है कि आपको कुछ मिल रहा है। पर इससे भी हत्वपूर्ण बात यह है कि मैं स्वयं कुछ पा रहा हूँ। मेरा ख्याल है कि इस रूप में न आता तो आज मैं इस रूप में आपके सामने आता और न यह जनता इस रूप में हमारे सामने होती। मैं एक विशेष का आचार्य रहता। एक संप्रदायविशेष के लोग ही मुझे जन-जन मुझे सुनने के लिए नहीं आता।

कार्यक्रम को शुरू करने के बाद मैं अपने-आपमें भी बहुत पा रहा हूँ। यह आवश्यक भी है। यदि मुझमें परिवर्तन न हो तो मैं प्रेरणा कैसे दे सकता हूँ? इस परिप्रेक्ष्य में एक छोटी-सी बात मैं बतलाऊँ। जिस समय मैं पूज्य गुरुदेव कालूगणी के पास संस्कृत में, उस समय वहां कोई संस्कृत के पंडित आते तो मैं सोचता कि न करूँ और इनकी गलती पकड़ूँ।

तीसरे अणुव्रत समिति के सोलहवें अधिवेशन पर प्रदत्त प्रवचन।

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

यद्यपि मैं साधक हूँ, किंतु साधना की पूरी परिपक्वता में ऐसा भावना पैदा हो जाती थी। लेकिन क्रमशः जब साधना बनी, तब अनुभव हुआ कि वैसा करना उचित नहीं था।

प्रसंग मघवागणी का

पूज्य मघवागणी के बारे में मैंने एक बात सुनी। एक संस्कृत के पंडित उनके पास आए। पंडितजी संस्कृत में बोलते आचार्यश्री राजस्थानी में। लोगों ने समझा कि आचार्य संस्कृत नहीं हैं। पर आचार्यश्री ने इसको कोई महत्त्व नहीं दिया। राजस्थानी में बोलने का अपना क्रम चालू रखा। बातचीत आ बातचीत करते-करते सहसा पंडितजी स्खलित हो गए। स्खलन मघवागणी की पकड़ में आ गई। उन्होंने उनको सचेत कहा कि 'पंडितजी!'

श्रोता उस रहस्य को नहीं समझ सके। पर पंडितजी स उन्होंने तत्काल संस्कृत छोड़कर राजस्थानी में बोलना शुरू किया। सभा विसर्जित हुई तो पंडितजी ने लोगों से कहा कि 'तुम लोग थोड़ी देर बाद आऊंगा।' लोग चले गए तो पंडितजी ने मघवागणी पैर पकड़कर कहा कि 'आपने मेरी शान रख ली। यहां मेरा आज यदि आप चाहते तो मेरी इज्जत मिट्टी में मिला सकते हैं।'

मघवागणी ने कहा कि 'यदि मैं ऐसा न करता तो हिंसा जिम्मेदार बन जाता। आपकी स्खलना को स्पष्ट कहने से आपकी पीड़ा होती। और किसी के मन को पीड़ा पहुंचाना हिंसा है, जो कभी काम्य नहीं है। साथ ही आपको सचेत न करता तो अपना नहीं निभा पाता। इसलिए सचेत करना आवश्यक हो गया।'

ऐसी घटनाओं की स्मृति सौहार्दशील बनने के लिए प्रकृत करती है। हमने अणुव्रत के माध्यम से बहुत पाया है और पूर्वाचार्य प्राप्त भूमिका को प्रशस्त किया है।

अणुव्रत-कार्यक्रम का फलित

अणुव्रत ने धार्मिकों को सही धर्म दिया है और धर्म का वास्तविक स्वरूप दिया है। अणुव्रत कहता है कि धर्म निवृत्ति पर साथ ही प्रवृत्ति को रोकनेवाला भी नहीं है। यदि यह प्रवृत्ति सर्वथा रोकने की बात करे तो कोई धर्म कर ही नहीं सकता। निश्चित है कि निवृत्तिप्रधान होते हुए भी वह सत्प्रवृत्तिमय है। अणुव्रतों की भूमिका—

धार्मिक के बीच की खाई को पाटने का प्रयास किया है। धर्म धार्मिक के साथ ही रहता है। यदि वह एक क्षण भी धार्मिक को है तो मान लेना चाहिए कि वह धर्म नहीं है। वस्तुतः अणुव्रत एक नई भाषा दी है और उसमें नए प्राणों का संचार किया है। समय ऐसा था, जब तेरापंथ के दान और दया के सिद्धांत माने जाते थे। चूहे-बिल्ली का स्पष्टीकरण करना हमारा पहला परंतु अब इस विरोध का अंतप्रायः हो गया है और इसका अणुव्रत को ही जाता है।

भविष्य की शुभ सूचना

अणुव्रत की भूमिका तैयार करने में सोलह वर्ष व्यतीत हो गए। भूमिका पर बहुत बड़ा काम हो सकता है। अतः मैं सबको करता हूँ कि अणुव्रत की मशाल लेकर आगे बढ़ें और युग की पीछे न रहें। इस कार्यक्रम के प्रारंभिक काल से ही कुछ लोग थ जुड़ गए थे। कुछ विचारों के स्तर पर साथ थे। जो इन स्तरों पर साथ नहीं थे, वे भी अब निकट हो रहे हैं, यह सन्नता की बात है, कार्यक्रम के उज्ज्वल भविष्य की शुभ

नी

दूबर १९६५

जागो ! निद्रा त्यागो !!

४० : अणुव्रत : सिंहावलोकन और भावी र

अणुव्रत का यह सोलहवां वार्षिक अधिवेशन है। इसमें ३ को विगत कार्यक्रम का सिंहावलोकन और भावी कार्यक्रम का निश्च है। उनके कार्यक्रम का मूल आधार नैतिक-विकास है।

विकास की अनेक रेखाएं हैं—आर्थिक विकास, शैक्षणिक वैज्ञानिक-विकास, सांस्कृतिक-विकास, नैतिक विकास आदि-आ

जीवन-पद्धति के परिवर्तन की मांग

इस परिवर्तनशील संसार में सर्वथा अपरिवर्तनीय क्या है वस्तु में परिवर्तन देख रहे हैं। हम परिवर्तन में भी विश्वास करते किसी वस्तु से इसलिए चिपके रहना नहीं चाहते कि वह पुरानी प्रकार किसी वस्तु से इसलिए दूर भागना नहीं चाहते कि वह बहुत बार पुरानी वस्तु को छोड़कर नई को अपनाना आवश्यक मैं मानता हूँ कि ऐसा करना विवेक का अनुरोध और समय की मांग

आज जीवन की पद्धति को बदलने की मांग समय के कर रही है और विवेक के द्वारा उसकी पुष्टि की जा रही है। जीवन पद्धति, जो राजतंत्र के युग में विकसित हुई थी, जनतंत्र के अनु है। जीवन के वे मूल्य, जो सामंतशाही के युग में मान्य हुए थे के वातावरण में मान्य नहीं हो सकते। जीवन की पद्धति और उस में परिवर्तन लाने का अर्थ है अणुव्रती होना और अणुव्रती होने है जीवन की पद्धति व उसके मूल्यों में परिवर्तन लाना।

जीवन-पद्धति और उसके मूल्य

राजतंत्र के युग की जीवन-पद्धति के तत्त्व अग्रोक्त हैं—

१. परावलंबन २. दूसरे के श्रम का अधिक लाभ
 ३. असमानता को मान्यता देना ४. विलास या आराम-तलबी ५.
- *अणुव्रत के सोलहवें वार्षिक अधिवेशन में प्रदत्त प्रवचन।

अणुव्रत : सिंहावलोकन और भावी स्वरूप

सुविधा को अधिक महत्त्व देना।

जनतंत्र में ये सारे तत्त्व बदल जाते हैं और इनके प्रतिपक्षी तत्त्व होत हैं। वे तत्त्व हैं

स्वावलंबन २. अपने श्रम का लाभ प्राप्त करना ३. समानता देना ४. श्रमपूर्ण जीवन ५. सुविधा की अपेक्षा स्वतंत्रता को महत्त्व देना।

जीवन-पद्धति और उसके मूल्यों का नया प्रारूप है। इससे होकर इसे प्राप्त करने के लिए भारतीय जनता को काफी परिवर्तन लाया जाएगा।

परिवर्तन का पहला चरण हैह्यविचार-परिवर्तन और दूसरा चरण अणुव्रत-परिवर्तन। अभी भारतीय लोग कठिनाइयों का अनुभव का रहे हैं। कारण स्पष्ट है। उनके विचार और स्वभाव दोनों हैं राजतंत्र-प्रणाली और वे जी रहे हैं जनतंत्र की छाया में। जनतंत्र के युग में जनतंत्र और स्वभाव को लेकर जीनेवालों के लिए कोई कठिनाई नहीं है। जनतंत्रीय जीवन-पद्धति से जीनेवालों के लिए अणुव्रत को अपनाने में कठिनाई नहीं है। कहना चाहिए कि अणुव्रत जनतंत्रीय जीवन-पद्धति के अनुकूल है।

स्वावलंबन आदि जीवन-तत्त्व अर्थ-संग्रह की वृत्ति को उत्तेजित करते हैं। संग्रह की वृत्ति से उत्तेजित होकर मनुष्य अनैतिक साधनों का सहारा लेता है। इस प्रकार सामयिक जीवन-पद्धति विकृत हो जाती है। नैतिकता तब तक उन्मूलित नहीं हो सकती, जब तक जीवन-तत्त्व दूषित हैं। इसलिए नैतिकता का विकास चाहनेवाले लोगों के लिए यह नितांत आवश्यक होता है कि वे जीवन-पद्धति के मूल तत्त्वों को पुनः लाएं।

शिक्षण और व्यवस्था

सामाजिक परिवर्तन दो उपायों से होता है। पहला उपाय हैह्यमानसिक और दूसरा हैह्यशासन-व्यवस्था। मानसिक शिक्षण-क्रम अनिवार्य नहीं है। इसलिए उससे अनिवार्य सामूहिक परिवर्तन की कल्पना करना संभव नहीं है। हम चाहते हैं कि सब लोग अणुव्रती बनें। किंतु यह भी जानते हैं कि हमारे चाहने पर भी सब लोग अणुव्रती बननेवाले नहीं हैं। हमारे सामाजिक परिवर्तन का नया समाज खड़ा करना नहीं चाहते। हम चाहते हैं कि

जागो ! निद्रा त्यागो !!

सारा समाज आदर्शों से अनुप्राणित हो जाए। फिर भले वह अणुव्रत कहलाए या न कहलाए, इसकी कोई चिंता नहीं है।

शासन-व्यवस्था के विवेकपूर्ण नियमन और अणुव्रत मानसिकता का समुचित योग हो जाए तो मुझे विश्वास है कि नैतिक विकास तेजी से हो सकता है।

राष्ट्रीय आचार-संहिता

अणुव्रतों का रूप प्रारंभ से असांप्रदायिक रहा है। पर सब धर्मों का समन्वय करने के लिए अणुव्रत की आचार-संहिता नहीं गई, बल्कि वह व्यक्ति के संप्रदाय-निरपेक्ष धर्म के आधार पर है। इसलिए विशुद्ध अर्थ में वह सर्वधर्म-समन्वय की नहीं, किंतु आचार-संहिता है।

अणुव्रत की आचार-संहिता का मूल आधार व्यक्ति है। जिसके पास शासन-शक्ति की अनिवार्यता नहीं होती, उसका आधार ही हो सकता है। विशुद्ध अर्थ में यह आचार-संहिता वैयक्तिक है। राष्ट्र के हर व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है। इसलिए इसे राष्ट्र-विकास की आचार-संहिता का स्थान स्वतः प्राप्त हो जाता है।

सोलह वर्ष तक अणुव्रत का कार्यक्रम व्यक्ति के स्तर पर अब हम इसे सामूहिक स्तर पर चलाना चाहते हैं। अणुव्रती अणुव्रती गांवहइस प्रकार इसे सामुदायिक रूप देना आवश्यक है। पद्धति का परिवर्तन व्यक्तिशः नहीं हो सकता, सामूहिक परिवर्तन से ही वह हो सकता है।

अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में अणुव्रत

मानसिक शिक्षण की आवश्यकता हिंदुस्तान को ही नहीं, अंतरराष्ट्रीय क्षेत्रों को भी है, जो भौतिक और वैज्ञानिक विकास के शिखर पर आप सोचेंगे कि वहां भी बहुत धर्म हैं, फिर अणुव्रत क्या अर्थ में आपसे स्पष्ट कहना चाहता हूं कि धर्म आज यह काम नहीं कर उसके साथ संप्रदाय के इतने कर्मकांड एवं ऐसी अवैज्ञानिक परंपरा हुई हैं कि वह आज वैज्ञानिक युग को प्रभावित नहीं कर सकता।

अणुव्रत का कार्यक्रम आध्यात्मिक या धार्मिक होते हुए कर्मकांड या परंपरा से जकड़ा हुआ नहीं है। यह मनुष्य मूल पर परिमार्जन का कार्यक्रम है। इसलिए यह वैज्ञानिक युग को प्रभावित

अणुव्रत : सिंहावलोकन और भावी स्वरूप

मैं चाहता हूँ कि अणुव्रत का यह नया अध्याय अंतरराष्ट्रीय संबद्ध हो।

की कार्य-पद्धति

अणुव्रत की कार्य-पद्धति अब तक मुख्य रूप से प्रचारात्मक रही प्रचार की आवश्यकता नहीं रही, यह तो मैं नहीं मानता, किंतु अब करता हूँ कि अब रचनात्मक पद्धति का विकास भी अपेक्षित है। नैतिकता के परिणामों से लोग परिचित हुए हैं। किंतु वे अनैतिकता को छोड़ने और नैतिकता को अपनाने में सक्षम नहीं हो सकते। इसके लिए उन्हें प्रशिक्षण देना और प्रायोगिक जीवन का अनुभव कराना आवश्यक है। इन सारे उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अणुव्रत-संस्था की स्थापना हुई है। वह इन सारी प्रवृत्तियों को क्रियान्वित करने अपनी योजनाएं तैयार कर रहा है।

के कार्यकर्ता

अणुव्रत के कार्यकर्ता दो श्रेणी के हैं। एक मुनि और दूसरे गृहस्थ। मुनि साधना करते हुए हिंदुस्तान के सुदूर प्रांतों तक विहार करते हैं। नैतिक विकास का प्रयत्न भी उनकी साधना का ही एक अंग है। वे उस दिशा में प्रयत्न करते हैं। हमारे साधु-साध्वियों ने कार्यक्रम को जितना आगे बढ़ाया है, उतना दूसरे लोग संभवतः प्रयत्न लगाकर भी नहीं बढ़ा पाते।

गृहस्थ कार्यकर्ताओं का सहयोग भी अणुव्रत को मिला है, पर जितना मुनि उससे और अधिक अपेक्षित है। आज ऐसे कार्यकर्ताओं की अपेक्षा हमारे लक्ष्य ही अपना नैतिक विकास करना हो और जिनका कार्यक्रम नैतिक विकास पर आधारित हो।

की गति

अणुव्रत के कार्य की गति बहुत धीमी नहीं तो बदलते हुए जमाने में चल सके, उतनी तेज भी नहीं है। इसके साधन सीमित हैं, हर क्षेत्र में तेजी से चलना कठिन हो रहा है। यह एक चिंतनीय

वैश्विक, समाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक परिवर्तनों से निपटारे रहकर अणुव्रत के कार्यकर्ता नैतिकता की बात करें तो उनकी युग-मानस पर कोई प्रभाव नहीं होगा। उन्हें इन सारी प्रवृत्तियों

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

के गुण-दोषों को समझकर नैतिक विकास का कार्यक्रम प्रस्तुत
चाहिए। ऐसा करने पर ही अणुव्रत की गति युग की गति के
सकती है।

नई आचार-संहिता

अणुव्रत का सोलहवर्षीय अध्याय समाप्त हो चुका है। दूसरा
प्रारंभ हो रहा है। आचार-संहिता के परिवर्तित रूप में केवल अ
आंदोलन नहीं है। हमारे भावी कार्यक्रम में भी आंदोलन का स्
और रचनात्मक प्रवृत्तियों का स्थान मुख्य होगा।

नई आचार-संहिता शब्दों की अपेक्षा विवेक-जागरण पर
है। इसमें अभ्यासात्मक या साधनात्मक संभावना को अधिक सुर
गया है। बौद्धिक जनता के लिए यह अधिक उपादेय होगी।

अणुव्रती, अणुव्रत के समर्थक, अणुव्रत के कार्यकर्ता सभी
इस शुभ अवसर पर मैं साधुवाद देता हूँ कि वे नैतिकता की
प्रदीप्त रखने के लिए कृतसंकल्प हैं।

अणुव्रत : सिंहावलोकन और भावी स्वरूप

३१ : राष्ट्रीय समस्याएं और अणुव्रत

यारो में कहा गया है

- जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ।
- जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ।

जो अध्यात्म को जानता है, वह बाह्य जगत् को जानता है और जो बाह्य को जानता है, वह अध्यात्म को जानता है।

अध्यात्मिकता का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति स्वयं को देखे, आंखें मूंद ले। एक प्रथम कोटि का आध्यात्मिक व्यक्ति की तरह सारे विश्व को देखता है।

अध्यात्मिकता के विकास का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति अपने सोचे, दूसरे के सुख-दुःख की चिंता न करे। आप इस बात को दूसरों के हित-अहित की चिंता करना आध्यात्मिकता में ही है। इसी दृष्टिकोण के आधार पर मैं स्वयं अध्यात्म-साधना का भी अणुव्रत के माध्यम से जन-जन में नैतिक जागरण का रहा हूँ।

भी मित्र!

एक विकास की अपेक्षा एक शाश्वत अपेक्षा है। युद्ध-काल में हत्व और अधिक हो जाता है। *पातंजलयोगदर्शन* में बताया गया **प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः** अहिंसा के प्रभाव से विरोधी भी मित्र बन जाते हैं। विरोधियों में मित्रता होती है यह सुना था, पर देखा नहीं था। लेकिन इस बार हमने देखा कि जब युद्ध का वातावरण बनाया, तब देशवासियों ने राष्ट्रीय बहुत परिचय दिया। युगों के विरोध खत्म हो गए। शत्रु भी गए। भले यह स्थिति सामयिक रही हो, पर इसकी महत्ता से मत हैं।

जागो ! निद्रा त्यागो !!

संस्कृति का प्रभाव

आज प्रत्येक राष्ट्र यह अनुभव करने लगा है कि भारत महान संस्कृति को स्थायित्व दिया है। भारतीय जनता चाहे स्थिति में क्यों न रही हो, पर राष्ट्र पर संकट आने की अपना बलिदान करने के लिए सदा उद्यत रही है। वस्तुतः हर की कुछ ऐसी विशेषता होती है, जिसके प्रभाव से उसके मौलिक सहजतया मिट नहीं पाते। व्यक्ति जिस संस्कृति में पलता संस्कृति के सत्संस्कारों को वह समय-समय पर पल्लवित, फलित और रसाप्लावित करता रहे, यह आवश्यक है।

समाधान की राह

भारतीय संस्कृति की अहिंसा-निष्ठा को समय-समय पर मिलती रही है। जब-जब हिंसा की समस्या ने उग्र रूप धारण तब-तब अहिंसा को अधिक निखरने का मौका मिला है। हिंसा रूप देखकर ही तो अहिंसा का सुप्त पौरुष जागता है।

अहिंसा व्यक्ति का परम धर्म है। युद्ध करता हुआ भी व सुरक्षित रख सकता है। पर यह संभव तभी है, जब अहिंसा हो, आत्मा के प्रदेश-प्रदेश में रमी हो। जहां अहिंसा आत्मगत न वहां युद्ध न करने पर भी व्यक्ति हिंसक हो जाता है। अतः मैं कि व्यक्ति-व्यक्ति की अहिंसात्मक चेतना जागे, जिससे विभिन्न समाधान की राह पकड़ सकें। मैं देख रहा हूं कि राष्ट्र के विभिन्न तरीकों से राष्ट्र के सामने उभरी समस्याओं को समाधान के लिए प्रयत्नशील हैं। पर मेरा विश्वास है कि इस दिशा में सफलता तभी मिल सकती है, जब समस्याओं का समाधान अहिंसा चरित्र के माध्यम से खोजा जाएगा।

खाद्य समस्या : आध्यात्मिक समाधान

आज की ज्वलंत समस्या है अन्न का अभाव। नेता समाधान में अधिक उत्पादन की बात करते हैं। इसका समाधान है अन्न संयम। राष्ट्र के नेता भी इसे आवश्यक मान इसलिए उन्होंने सप्ताह में एक दिन सोमवार को एक बार अन्न का प्रस्ताव रखा है।

मैं अणुव्रती और अणुव्रतानुरागी भाई-बहिनों को आह्वान

सोमवार को या सप्ताह में किसी एक अन्य दिन एकाशन करने का प्रस्ताव लें। इसके फलस्वरूप आध्यात्मिक दृष्टि से वे तो न होंगे ही, राष्ट्र की इस ज्वलंत समस्या को भी सहज रूप से की राह मिल सकेगी।

पाप है

राष्ट्र की दूसरी समस्या है जनता द्वारा सोने का अनावश्यक संग्रह करना। सोना राष्ट्र की संपत्ति है। राष्ट्रीय धरातल को सुदृढ़ता प्राप्त होती है। अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में इसी के आधार पर राष्ट्र के धरातल का अंकन होता है। राष्ट्र की सुरक्षा के संसाधन जुटाने में सोने की अहम भूमिका रहती है। इसलिए जन-साधारण इसका उपभोग कम-से-कम करे, इसका अनावश्यक संग्रह न करे। यह एक गैर-व्यय है। आध्यात्मिक दृष्टि से भी संग्रह करना उचित नहीं है। सोना है, बहुत-से पापों का मूल है। जिस समय राष्ट्र के सामने यह संकट नहीं था, तब भी मैंने तेरह तोले से अधिक सोना न पहनने का आग्रह किया था। आज जैसी परिस्थितियां राष्ट्र में बनी हैं, उनके सामने मैं सरकार तेरह तोले से भी कम की बात कह रही है। अब सोना पहन रहे हैं कि आचार्यजी ने हमें पहले ही मार्ग-दर्शन दिया था। हमें दृष्टि बहुत दूरदर्शी है। पर हम उनकी दूरदर्शिता का यथार्थ उपयोग नहीं कर पाए। यदि उस समय उनकी बात को गंभीरता से लें, उनके अनुसार अपनी मानसिकता और व्यवहार में परिवर्तन कर लें, तो आज हमारे सामने कठिनाई नहीं होती।

राष्ट्र के पास जमीन में सोना पड़ा है या आभूषणों से तिजोरियां भरी हैं और वे राष्ट्र के संकट के समय भी उसे बाहर निकालना नहीं जानते। मानना चाहिए कि उनकी राष्ट्रीय चेतना जागृत नहीं है। फिर भी एक चेतना की बात तो बहुत पीछे छूट जाती है। शास्त्रों में कहा है कि उन कुंडलों को पहनने से क्या लाभ, जिनसे कान कट जाएं। सोना छुरी है तो क्या उसे पेट में खाया जाए? अपेक्षा है, जन-जन की आध्यात्मिक चेतना अंगूठे की दिशा में आगे बढ़े। साथ ही वह अपने राष्ट्रीय कर्तव्य को भी समझे। उसे अनदेखा करके राष्ट्र के नागरिकों के लिए नैतिक दृष्टि से उचित कैसे कहा जा सकता है? यदि यह पृष्ठभूमि बनती है तो एक सोने की ही नहीं, अपितु छोटी-बड़ी बहुत-सी समस्याएं भी समाहित हो सकती हैं।

सोना पहनने की बात करने से मेरा दायित्व बढ़ गया है, ऐसा मैं नहीं चाहता।
— जागो ! निद्रा त्यागो !!

अनुभव कर रहा हूँ। लेकिन मैं जानता हूँ कि मेरे अनुयायियों कमजोर नहीं हैं। वे भी दायित्व को निभाने में मेरे साथ हैं। कभी भार महसूस नहीं करता।

अणुव्रतों के नियमों की भाषा सीमित है, पर भावना सीमर हर अणुव्रती भावना को समझकर व्रतों का पालन करे। आत्म व्रतों का पालन करनेवाला अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सफल

नई दिल्ली

३१ अक्टूबर १९६५

राष्ट्रीय समस्याएं और अणुव्रत

४२ : धर्म की पहचान

राजसभा जुड़ी थी। विभिन्न मतावलंबी वहां उपस्थित थे। चर्चा कि कौन-सा धर्म/मत श्रेष्ठ है। सबसे पहले एक वैष्णव व्यक्ति 'भक्ति का जो महत्त्व वैष्णव धर्म में है, वह अन्यत्र कहीं नहीं' धर्म ने भक्ति को प्रबल साधन बताया है। भक्ति ही अभिप्रेत की जानेवाली है। अतः सबको भक्ति करनी चाहिए।'

यासियों के अनुयायी ने संन्यास का महत्त्व गाया। बुद्ध-उपासक धर्म का महत्त्व बताते हुए उसके अनासक्ति के सिद्धांत का वर्णन उसी प्रकार अन्यान्य मतावलंबियों ने अपने-अपने धर्म की श्रेष्ठता को करने की चेष्टा की। वहां उपस्थित व्यक्तियों में से एक व्यक्ति जैन धर्म का महत्त्व बताते हुए उसने सोचा, दूसरे-दूसरे मतवाले अनेक की प्रशंसा करने की चेष्टा की। मैं स्वयं ही स्वयं की प्रशंसा करने का तरीका युग के अनुकूल नहीं है। इसलिए मुझे समझदारी से धर्म का विचार करना चाहिए।

राजसभा के अंत में वह खड़ा हुआ और बोला 'मुझे आज अत्यंत प्रसन्न है कि हमारी राजसभा में धार्मिक चर्चा चली है। अभी सबने अपने धर्म की प्रशंसा की। ऐसा होना स्वाभाविक ही है। लेकिन मैं सोचता हूँ कि यह बात संकीर्ण दृष्टिकोण को प्रकट करती है। इस संदर्भ में एक सुझाव है कि श्रेष्ठता का यौक्तिक अध्ययन होना चाहिए।'

राजा का विचार सबको उचित लगा। राजा ने मंत्री से पूछा 'इसके लिए क्या करना चाहिए?' मंत्री ने कहा 'सभी धर्मों के प्रतीकों को यहां लाना चाहिए तथा उनके विचारों और व्यवहारों से पता लगाया जाए कि कौनसा धर्म श्रेष्ठ है।'

राजा के सच्चे प्रतीक होते हैं साधु-संन्यासी। धर्म रूपी गाड़ी को चलाने में प्रमुख हाथ उनका ही रहता है। साधु-संत प्रेरणा न दें तो धर्म वे ही व्यक्ति करेंगे, जो क्लान्त, अशांत, वृद्ध और रोगी हैं।

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

साधु-संत मनोवैज्ञानिक ढंग से बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष धर्म का उपदेश देते हैं। इससे सबको प्रेरणा मिलती है। हालांकि देना उनका पेशा नहीं, आत्म-धर्म है।

एक विचारधारा के अनुसार व्यक्ति जिस पथ पर चलता सिद्धांतों को जीवित रखने के लिए वह दूसरों को प्रेरणा देता मेरे विचार से यह चिंतन संकीर्णता का प्रतीक है। स्वस्थ चिंत कि व्यक्ति आत्म-धर्म मानकर काम करे। इससे सिद्धांतों का प्र होगा। संसार स्वयं उनके आलोक से आलोकित होगा।

हां, तो राजा ने मंत्री के सुझाव के अनुसार प्रत्येक धर्म को बुलाने का आदेश दिया। सूचना मिल जाने से दूसरे-दूसरे प्रतीक तो समय पर उपस्थित हो गए। लेकिन जैन-धर्म के प्र पहुंचे, क्योंकि जैन-मुनि कहां रहते हैं, यह किसी को पता नहीं सूचना के अभाव में वे पहुंचते कैसे? मंत्री से पूछा गया बोलाह 'जैन-मुनि के रहने का स्थान निश्चित नहीं है। खोज मालूम होगा कि वे कहां रहते हैं।'

राजा के अनुचर जैन-मुनि को खोजने गए और संयोगवश करते हुए मिल गए। राजसभा में आने के लिए निवेदन किया उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी। जैन-मुनि के चर्यानुसार वे पैदल आए और अनुज्ञा प्राप्त कर के उचित स्थान पर राजसभा में परिषद को देखकर उन्हें स्थिति समझते समय नहीं लगा। होकर उचित अवसर को प्रतीक्षा करने लगे।

परीक्षकों ने बिना कुछ कहे एक पंक्ति लिखी और आज्ञानुसार उसकी पूर्ति करने के लिए सबको कहा। चूंकि प्राकृत आम बोलचाल की भाषा थी, अतः वह पंक्ति प्राकृत में

सकुण्डलं वा वयणं नवत्ति।

उपस्थित सभी धर्म-प्रतीकों ने उपर्युक्त पंक्ति को पढ़ा। पहले एक परिव्राजक खड़ा हुआ और बोलाह

**भिक्षुं पविष्टेण मयेज्ज दिट्ठं,
पमयामुहं कमलविसालनेत्तं।
वाक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं,
सकुण्डलं वा वयणं नवत्ति॥**

धर्म की पहचान

मैं जब भिक्षा के लिए गया तो विकसित कमलों के समान विशालनेत्रा स्त्री खड़ी थी। उसका मुंह देखकर चूंकि मैं विक्षिप्त हो गया, इसलिए यह जान नहीं सका कि उसके कानों में कुंडल हैं या नहीं।

के बाद एक तापस खड़ा हुआ और बोलाह

फलोदणं मि गिहं पविट्टो,
तत्थासणत्था पमया मि दिट्ठा।
वाक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं,
सकुण्डलं वा वयणं नवत्ति ॥

मैं फल, फूल, पानी आदि लेने के लिए एक घर में गया। वहां आसन पर एक स्त्री बैठी थी। उसे देखकर मैं विक्षिप्त हो गया। इसलिए पता नहीं कि उसके कानों में कुंडल हैं या नहीं।

क्रम में बौद्ध भिक्षु अपने स्थान से उठा और ओजस्वी वाणी

मालाविहारंमि मयेज्जदिट्ठा,
उवासिया कंचणभूसियंगी।
वाक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं
सकुण्डलं वा वयणं नवत्ति ॥

आज मैं माला-विहार में गया। वहां मैंने देखा कि आभूषणों से सज्जित एक उपासिका बैठी है। लेकिन विक्षिप्तमन हो जाने के कारण जान नहीं सका कि उसके कानों में कुंडल हैं या नहीं।

ने देखा, तीनों मुनि परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गए हैं। इसके वह मौन बैठा रहा, क्योंकि जैन-मुनि की परीक्षा होनी अभी तक सभासदों की गहराती उत्कंठा के बीच जैन-मुनि ने कहाह

खंतस्स दंतस्स जिइन्दियस्स,
अज्झप्पजोगे गयमाणसस्स।
किं मज्झ एण विचित्तिण,
सकुण्डलं वा वयणं नवत्ति ॥

मैं शांत, दांत और जितेंद्रिय हूं। मेरा मन सदा अध्यात्म में लीन रहता है। अतः गृहस्थ के घरों में जाने पर भी यह क्यों सोचूं

जागो ! निद्रा त्यागो !!

कि स्त्री के कानों में कुंडल हैं या नहीं?

यह सुनते ही पहले बोलनेवाले प्रतीकों ने अनुभव किया परास्त हो गए। मंत्री खड़ा हुआ और राजा को संबोधित करके 'सभी धर्मों के प्रतीक आपके सामने हैं। अब आप स्वयं परखें कि कौन-सा धर्म अच्छा है।'

राजा ने जैन-धर्म की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए जैन-मुनि की ओर वह निवेदन की भाषा में बोला 'आप आए हैं तो उपदेश भी सुना दीजिए।'

राजा की प्रार्थना सुनकर मुनि बोले

- उल्लो सुक्को य दो छढा, गोलया मट्टिया मर
दोवि आवडिया कुहे, जो उल्लो तत्थ लग्ग
- एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालस
विरता उ न लग्गंति, जहा से सुक्कगोल

ह मट्टी के दो गोलक हैं, एक आर्द्र और दूसरा शुष्क। गोलकों को एक भित्ति पर फेंका गया। एक वहां चिपकता और दूसरा नीचे गिर गया। कारण स्पष्ट है। चिपकता जिसमें आर्द्रता रहती है। सूखा गोलक भित्ति पर चिपक सकता। इसी प्रकार जो मनुष्य आसक्ति से गीले होते बंधन होता है और जो आसक्तिरहित होते हैं, उनके बंधन नहीं होता।

बंधुओ! इससे आप भी समझ सकते हैं कि धर्म क्या है। जितनी-जितनी अनासक्ति है, विरक्ति है, उतना-उतना धर्म जितनी-जितनी आसक्ति है, कामना और लालसा है, उतना-उतना है। धर्म और अधर्म की यह बिलकुल सीधी-सी पहचान है।

अणुव्रत व्यक्ति-व्यक्ति को आत्म-धर्म के प्रति सजग व उसके पालने की उत्प्रेरणा देता है। आत्म-धर्म ही जीवन का तत्त्व है। परिवार और समाज की सीमा में रहता हुआ भी व्यक्ति आत्म-धर्म को विस्मृत न करे, उसका सजगता से पालन नितांत अपेक्षित है।

नई दिल्ली,

२ नवंबर १९६५

धर्म की पहचान

४३ : संयम की साधना

के दो रूप हैं—संयम और तप। ये दोनों ऐसे तत्त्व हैं, जिनसे प्रकृति निर्गम्य होती है। चूंकि निर्गम्य-प्रवचन आध्यात्मिक शासन है और तप आध्यात्म का सबसे महत्त्वपूर्ण सूत्र है, प्रमुखतम साध्य है, इन दोनों तत्त्वों पर विशेष बल देना आवश्यक है। हालांकि शरीर का स्वास्थ्य भी आत्मशुद्धि के लिए आवश्यक है, पर वह मात्र साधन है।

संयम और तप की आराधना कर आज तक अनंत-अनंत प्राणियों ने अपनी आत्मा की पवित्रता साधी है। वे शुद्ध ज्योतिर्मय-रूप को उपलब्ध हुए हैं, सिद्ध, बुद्ध और परमात्मा बने हैं।

संयम की पूर्व सामग्री

संयम-साधना की पूर्व सामग्री के रूप में कुछ चीजों की अनिवार्य आवश्यकता होती है। उनमें पहली चीज है—मनुष्य-जीवन। किंतु यह बहुत ही दुर्लभ है। लाखों प्रयत्नों के बावजूद इसकी प्राप्ति नहीं होती। सौभाग्य से प्राप्त होता है तो आर्य-क्षेत्र मिलना मुश्किल है। आर्य और अनार्य-क्षेत्रों की सीमा कर दी गई है। लेकिन यह सीमा ध्रुव नहीं है, गोल है। एक समय बिहार, बंगाल, असम, उड़ीसा आदि आर्य-क्षेत्र माने जाते थे। आज उन्हें अनार्य माना जाता है। राजस्थान को आर्य-क्षेत्र माना जाता था, वह आज पूरा आर्य-क्षेत्र बन गया है। यह बहुत स्पष्ट है कि आर्य-अनार्य क्षेत्रों की सीमा बदलती रहती है। आर्य-क्षेत्र में धर्म-सामग्री सहज सुलभ हो, वह आर्य-क्षेत्र और जहां अनार्य-क्षेत्र न हो, वह अनार्य-क्षेत्र होता है। इस परिभाषा के आधार पर आर्य और अनार्य क्षेत्रों का वर्गीकरण कर सकते हैं।

आर्य क्षेत्र मिलने पर भी उत्तम कुल मिलना दुर्लभ है। सामान्यतः आर्य-क्षेत्र और वैश्य कुल को उत्तम माना जाता है। किंतु तत्त्वतः उत्तम वह है, जिसमें सहजतया सही संस्कारों को प्रसरण मिले।

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने पर भी यदि व्यक्ति शराबी, मांसाहार
हिंसक हो तो वह कुलीन कैसे कहला सकेगा?

उत्तम कुल का संयोग मिलने पर भी लंबा आयुष्य मिलना
है। हर प्राणी जन्म लेता है और मरता है। लेकिन दीर्घ आयुष्य
नहीं मिलता। किसी को आयुष्य तो लंबा मिल गया, पर यदि
शरीर स्वस्थ नहीं है तो भी बात बनी नहीं। इंद्रियहीन व्यक्तियों
आयुष्य पाकर भी क्या करेगा?

उपर्युक्त चीजें धर्म की पूर्व सामग्री हैं। इनकी प्राप्ति
सत्संग व उपदेश जरूरी है। पर सुनने की रुचि न हो तो इन
का भी सही लाभ नहीं होता। अतः सुनने की अभिरुचि आव
इतनी बातों का योग मिलने के बाद संयम और तप करने व
पैदा होती है।

जैन-धर्म ने संयम और तप पर अधिक बल दिया है।
सामग्री सहज गम्य है। जो व्यक्ति केवल संयम और तप की ब
हैं, लेकिन पूर्व भूमिका से बेपरवाह रहते हैं, वे संयम-तप की
नहीं कर सकते।

संयम के पांच प्रकार

संयम शब्द की निष्पत्ति **यमुहउपरमे** धातु से होती है।
यमहसंयम। यानी अच्छी प्रकार से निवृत्त होने का नाम संयम
का दूसरा नाम चारित्र भी है। बलात हाथ-पैर बांधने से भी
होता है, पर वहां सम्यक यम का अर्थ नहीं निकलता। संयम वि
नियंत्रण का नाम है।

ठाणं में संयम के पांच प्रकार बताएं गए हैं^१। सामा
२. छेदोपस्थाप्यसंयम ३. परिहारविशुद्धिसंयम ४. सूक्ष्मसंपराय
यथाख्यातसंयम।

सामायिकसंयम

सामायिक का अर्थ हैहसमता की साधना। समता तट
अभिधेय है। तराजू से तोलने पर दोनों पलड़े बराबर रहें, उसे
कहते हैं। इसी प्रकार हर परिस्थिति में संतुलित रहने का नाम
विधिवत समता की साधना करना सामायिक है।

श्रावक लोग सामायिक करते हैं। सामायिक में द्रव्य, क्षे

संयम की साधना

का बहुत महत्त्व है, क्योंकि कोई भी त्याग द्रव्य, क्षेत्र आदि के नहीं होता।

सामायिकह

द्रव्य सेहश्रावक के बारह व्रत में से नवां व्रत।

क्षेत्र सेहजिस क्षेत्र में सामायिक की जाए।

काल सेहसामायिक के उपयुक्त काल।

भाव सेहसारागद्वेषरहित, उपयोगसहित।

पेट भोजन करने के बाद जब नींद आने लगे, वह समय करने के लिए उपयुक्त नहीं है। वैष्णव लोग सुबह, मध्याह्न त्रिसंध्या करते हैं। हमारे यहां सुबह सूर्योदय से पहले तथा अस्त के साथहये दो समय रखे गए हैं। इनको विकाल माना इनमें मुनि प्रतिक्रमण करते हैं; सूत्र-स्वाध्याय का निषेध है।

आप प्रार्थना करते हैं?

जपान की दो बहिनें आईं। वे अहिंसा के संदर्भ में विशेष कर रही हैं। उनमें से एक ने पूछाह'क्या आप प्रार्थना करते कहाह'अनवार्य रूप से हमारी प्रार्थना होती है। वर्षा, आंधी, बाहर..... किसी भी स्थिति में वह नहीं छूटती। फिर हम प्रार्थना क बार ही नहीं, दो बार करते हैं। सुबह तथा शाम को।' ख्याल ना, प्रतिक्रमण, सामायिक ये सब एक ही अभिधेय के प्रतीक हैं। श्रावकों की तरह साधु लोग भी सामायिक करते हैं। पर श्रावकों सामायिक और साधुओं की सामायिक में अंतर है। श्रावकों की सीमित काल की होती है, अतः वे जितनी चाहें, उतनी ही कर सकते हैं। पर मुनियों की सामायिक असीमित काल की उनकी सामायिक को सामायिकसंयम कहा गया है।

आप की सामायिकह

आप सेहसामायिकसंयम।

आप सेहसब क्षेत्रों में।

आप सेहयावज्जीवन।

आप सेहसारागद्वेषरहित उपयोगसहित।

सामायिकसंयम का सीधा-सा अर्थ हैहज्जीवन-भर सर्व सावद्योग रख्यान करना।

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

छेदोपस्थाप्यसंयम

सामायिकसंयम में हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और पाप एक साथ त्याग किया जाता है। इन्हीं को जब विस्तार से न अलग-अलग त्याग कराया जाता है, वह छेदोपस्थाप्यसंयम कहते हैं। यह संयम मध्यवर्ती बाईस तीर्थकरों के समय नहीं होता। केवल अंतिम तीर्थकरों के समय होता है। यह जघन्यतः सात पश्चात; मध्यमतः चार माह के पश्चात तथा उत्कृष्टतः छह पश्चात आता है।

परिहारविशुद्धिसंयम

तपविशेष से विशुद्धि करने का नाम हैहपरिहारविशुद्धि। इसमें तपस्या कम है। उपवास, बेले, तेले, चोले और पंचे तपस्या से अधिक की तपस्या नहीं है। इसके बावजूद इसे महत्त्व दिया गया है। इसके पीछे एक विशेष अपेक्षा है। इसमें एक क्षण के मन में, अध्यवसायों और विचारों में अशुद्धता नहीं आनी चाहिए। छद्मस्थतावश कदाच आ जाए तो कड़ा प्रायश्चित्त दिया जाता है। तपस्या का निश्चित समय है, निश्चित विधि है। नौ व्यक्तियों समूह यह तपस्या करता है। विशेष बात यह है कि आचार्य तभी यह तपस्या की जा सकती है।

आज हम कह देते हैं कि यह पद्धति विच्छिन्न हो गई है। है कि आज ऐसी तपस्या नहीं हो सकती। पर पूरी नहीं हो सके। अधूरी को क्यों छोड़ें? आज केवलज्ञान नहीं हो सकता तो क्या को छोड़ दें? विच्छेद कहकर छोड़ना मेरी दृष्टि में एक तरह की है। जितनी संभव हो सके, उतनी तपस्या तो करनी ही चाहिए। चिंतन की कमी से विच्छेद कहकर समूची पद्धति को भुला दिया गया है।

सूक्ष्मसंपरायसंयम

कषाय की कमी होने से यह संयम आता है। इसमें स्थूल का क्षय हो जाता है। केवल सूक्ष्म कषाय अवशेष रहता है।

यथाख्यातसंयम

इस संयम में कुछ भी नहीं करना पड़ता। त्याग और तप भी आवश्यकता नहीं रहती। इसमें अंतर्जगत और बाह्य जगत् एकरूपता रहती है।

संयम की साधना

म के पांचों प्रकारों की संक्षिप्त चर्चा मैंने की। जो इन पांचों में एक को स्वीकार करे या इनके अंश-अंश ग्रहण कर ही लेकर अपना कल्याण हो जाता है।

ई व्यक्ति जन-कल्याण की बात करे, उससे पहले वह कल्याण की बात सोचे, यह नितांत अपेक्षित है, क्योंकि कल्याण के बिना पर-कल्याण की बात करने का बहुत मूल्य नहीं। व्यक्ति स्वयं कीचड़ में फंसा हुआ है, वह दूसरे को कीचड़ से कैसे निकालेगा? जो लोग इस बात को नहीं समझते और केवल पर-कल्याण की बात करते हैं वे घर का पूत कुंआरा फिरे, पाड़ोसी नै उक्ति को चरितार्थ करते हैं। मैं सोचता हूं, कोई भी समझदार पर-कल्याण की बात को चरितार्थ करना नहीं चाहता। पर चाहे या न चाहे, पर-कल्याण की बात को भुलाकर मात्र जनकल्याण की बात करती है, वहां इस उक्ति को चरितार्थ होने से कैसे रोका जा सके? अतः व्यक्ति पहले आत्मकल्याण का लक्ष्य बनाएहसंयम के आएं, यही श्रेयस्कर है।

, दिल्ली
र १९६५

जागो ! निद्रा त्यागो !!

४४ : अहिंसा-विवेक

जीवन और अहिंसा

जैन-तत्त्व-चिंतन के अनुसार एकेंद्रिय जीवों का सम संयम करनेवाला व्यक्ति पांच कार्यों का संयम करता है और इनकार करनेवाला पांच कार्यों का असंयम करता है। इसी प्रकार जटिल पंचेंद्रिय प्राणियों का समारंभ नहीं करता, वह पांच इंद्रियों का असंयम करता है और इनका समारंभ करनेवाला पांच इंद्रियों का असंयम करता है। समझने की बात यह है कि संयम चाहे पांच कार्यों का हो या पांच इंद्रियों का, वह संयम ही है। इसी प्रकार असंयम चाहे पांच कार्यों का हो या पांच इंद्रियों का, वह असंयम ही है।

जैन-तीर्थकरों की दृष्टि में हिंसा मात्र त्याज्य है। दशवैकाशिका में कहा गया है—

**सर्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं
तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयन्ति पाणं**

अर्थात् सब प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इसलिए हिंसा त्याज्य है। पर यहां ध्यान देने की बात यह है कि प्राणी होने के बावजूद सांसारिक प्राणी का जीवन हिंसा से जुड़ा हुआ है। कोई नकार नहीं सकता। तब प्रश्न पैदा होता है कि प्राणी यही क्यों करता है तो क्या वह क्रूर नहीं हो जाता। क्रूरता का मानवता क्या संबंध हो सकता है। इस बिंदु पर जैन-तीर्थकरों ने हमारा मार्ग प्रशस्त किया है। उन्होंने कहा कि सामाजिक प्राणी हालांकि हिंसा से बचने में उपरत नहीं हो सकता, तथापि एक सीमा तक तो उससे बच सकता है। जिस हिंसा के बिना उसका काम आसानी से चल सके, उसे तो वह उपरत हो। इस सीमा तक तो वह अहिंसा की अवश्यमेव करे। यदि व्यक्ति अनावश्यक हिंसा से उपरत हो जाए तो वह क्रूर नहीं कहलाता। उदाहरणार्थ, व्यक्ति मकान बनाता है।

अहिंसा-विवेक

करता है। भोजन पकाता है।..... इन सब प्रवृत्तियों में हिंसा स्पष्ट है। ये प्रवृत्तियां जीवन की अनिवार्य प्रवृत्तियां हैं, इसलिए सांसारिक से बच नहीं सकता। बावजूद इसके, इतना संकल्प तो वह कर सकता है कि मैं चलते-फिरते प्राणियों की घात नहीं करूंगा। हालांकि संकल्प में भी कुछ अपवाद अपेक्षित हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, सांप काटता है। कोई हिंस्र पशु आक्रमण करता है। ऐसी परिस्थितियों में व्यक्ति निष्क्रिय नहीं रह सकते। वे अपनी रक्षा के लिए उनकी मदद देते हैं। उस समय अपने-आप पर काबू रख पाना कठिन है। अतः आक्रमण करता है, उस समय भी बिना कोई प्रतिकार किए प्रतिकूल है। अतः संकल्प की भाषा यह होगी 'निरपराध त्रस जीव नहीं करूंगा।' यहां भी एक तर्क रहता है कि पैर के नीचे कोई जीव मर जाए तो..... इसका समाधान यह है कि उक्त संकल्प के साथ जानबूझकर शब्द और जोड़ देना चाहिए।

किंतु एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा के बिना गृहस्थ का काम नहीं चलता। तथापि वह पाप तो है ही। अतः एकेन्द्रिय हिंसा में भी यह संकल्प रखना आवश्यक है कि निरर्थक हिंसा न हो। एक दंतौन के लिए फल को काट देना, एक फल के लिए बीसियों-तीसियों फल तोड़ देना, चार फूलों के लिए पूरे पौधे को उखाड़ देना आदि प्रवृत्तियां हिंसा में परिगणित होती हैं।

जैन अहिंसा की कसौटी

जैन-धर्म विवेक का धर्म है, उपयोग का धर्म है। धर्म की यदि एक परिभाषा देनी हो तो कहा जा सकता है कि उपयोग ही धर्म है। जैन धर्म बहुत ही मूल्यवान तत्त्व है। उपयोगयुक्त होकर व्यक्ति पाप से बचाव कर सकता है। जैन-धर्म का तत्त्व-चिंतन बहुत सूक्ष्म है। जो हिंसा और अहिंसा जीव के मरने और न मरने तक ही चिंतन नहीं है। जीव अपने आयुष्य के बल पर जीता है और जब आयुष्मत् क्षीण हो जाता है, तब वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इसलिए मरने की बात बहुत गौण है। हिंसा और अहिंसा के चिंतन का मूल आधार है व्यक्ति के मन, वचन और काया की प्रवृत्तियां। अतः मन और काया की दुष्प्रवृत्तियां हिंसा हैं। दुष्प्रवृत्तियों से बचना चाहिए।

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

अहिंसा पर प्रयोग करना चाहती हूँ

जापान की एक बहिन अहिंसा के बारे में शोध कर रही थी। मन में अहिंसा के प्रति तीव्र लगाव है, जिज्ञासा का भाव है। कहाँ कहाँ मैंने एक बार एक पशु को मारे जाते हुए देखा। वह उसकी पीड़ा देखकर मेरे दिल में दर्द हुआ। तब से मेरा दिल ब और अहिंसा के प्रति मेरी आस्था गहरी हो गई। कालांतर में मैं अहिंसा पर प्रयोग करने की तीव्र इच्छा हुई। इस उद्देश्य से मैं पहुँची। वहाँ मैंने आपका नाम सुना। तब वहाँ से चलकर यहाँ मुझे अहिंसा पर थीसिस नहीं लिखनी है, पर मेरे जीवन में तक उतर सकती है, इस दृष्टि से मैं प्रायोगिक भूमिका से गुजरना चाहती हूँ।

मुझे आश्चर्य हुआ कि विदेशी महिलाएं भी अहिंसा के कितना सोचती हैं! दूसरी तरफ जो समुद्र में बैठे हैं, उन्हें भान है कि समुद्र में कितना पानी है! मैंने कहाँ प्राणी का मरना हिंसा-अहिंसा की कसौटी नहीं है। इसके लिए तो यह जान कि जीवन में गुस्सा, अभिमान, वंचना, लालसा, वासना, भय आदि हैं या नहीं। यदि ये सब तत्त्व हैं तो भले जीव को मारे या व्यक्ति हिंसक ही है तथा जिस सीमा तक दुष्प्रवृत्तियों बचता सीमा तक वह अहिंसक है।’

उसने कहाँ व्यक्ति इनसे सर्वथा उपरत नहीं हो सका समझायाँ सामान्य प्राणी के लिए सर्वथा की बात मैं नहीं मूलभूत बात है, मनुष्य का लक्ष्य बन जाए और उसको सामने वह गति करे। इस क्रम से वह अपने लक्ष्य तक पहुँचने में कर्ष अवश्य सफल हो सकता है।’

अहिंसा की अधूरी समझ

मैं देखता हूँ कि लोगों के अहिंसा के संस्कार बहुत रूढ़ हैं अधूरी है। पैर से चींटी मरने पर अनुताप हो और गुस्सा ग्लानि न हो, यह अहिंसा को पूरी तरह से नहीं समझने का परि चींटी की हत्या होने पर प्रायश्चित्त किया जाता है और क्रोध नहीं, क्योंकि संस्कार रूढ़ हो गए हैं। तत्त्वतः जैसे प्राणी-हत्या जैसे ही गुस्सा भी हिंसा है। इससे दिन-रात स्वयं की हिंसा है। क्षण-क्षण में वृत्तियाँ दूषित होती रहती हैं।

अहिंसा-विवेक

एक रोग

एक व्यक्ति ने कहाह्व'मुझे गुस्सा आता है। इससे मन में अशांति आती है। आप इसको जीतने का उपाय बताएं।' मैंने कहाह्व'गुस्सा एक रोग है। इसकी दवा तो है, पर अनुपान कड़ा है। पथ्य का ध्यान रखने से रोग का अंत हो सकता है। सामान्यतः कहा जाता है कि गुस्सा आने के समय बोलना नहीं चाहिए। लेकिन यह विवेक यदि जाग्रत रहे तो आया ही क्यों? सामान्यतः गुस्से के समय व्यक्ति को भान ही आता है। पर जब वह शांत हो जाए तो उसका अनुताप करे तथा गुस्सा न आये, उसके दूसरे दिन चीनी या नमक का सर्वथा प्रयोग न करे।'

व्यक्ति संकल्प लेकर चला गया। दूसरी बार जब वह आया तो मुझे क्षण-क्षण में आपके शब्दों की स्मृति बनी रहती है, फलतः गुस्सा नहीं आया। इससे मुझे आराम मिला है। मेरा विश्वास है कि यह क्रम चलता रहेगा तो मेरा कल्याण हो जाएगा।'

धर्म की कसौटी

धर्मो! धार्मिक लोगों को क्रोध-जैसे दुर्गुणों से सलक्ष्य बचना चाहिए। धर्म के अगुवा कहलानेवालों की वृत्तियां यदि दूषित हैं तो वे धर्म कहलाने के अधिकारी कहां तक हैं, यह वे स्वयं सोच सकते हैं। धर्म बरतना चाहिए कि धार्मिकता की वास्तविक कसौटी बाह्य प्रदर्शन नहीं है। वास्तविक कसौटी है ह्रस्वप्रवृत्तियां। दुष्प्रवृत्तियां जितनी कम हैं, धार्मिकता उतनी ही निखरती है। अपेक्षित है कि इस स्तर पर धार्मिकता का खिताब प्रत्येक व्यक्ति स्वयं प्राप्त करे। वह अपने प्रवृत्तियों के आधार पर रोजाना अंक लगाए। जिस दिन पूरे अंक की प्राप्ति हो, उस दिन स्वयं को धार्मिकता में उत्तीर्ण समझे।

अपेक्षित है

धर्म और बुरी प्रवृत्तियों को सब जानते हैं। उत्तेजना आती है, पर धर्म बुरी ही नहीं होती, बशर्ते कि उस उत्तेजना से वृत्तियां दूषित न हों। धर्म व्याख्याता व्याख्यान में उत्तेजित हो जाता है। इसे बुरा नहीं माना जाता। धर्म को उत्तेजित होना पड़ता है। पर वह आपसे बाहर न निकले। धर्म समूचे संघ का संचालन करते हैं। समय पर उनके लिए धर्म कहना भी जरूरी हो सकता है। पर इतना ध्यान रहे कि स्वयं उत्तेजित न बन रहे। होश न खोएं। किसी का अंतर आहत हो, वैसे

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

शब्द न बोलें। बच्चा बार-बार गलती करता है तो उसे डांटना पर डांटने में भी संतुलन न बिगड़े, यह अपेक्षित है। उत्तम व्यक्ति करता भी है तो वह टिकता नहीं। पानी में खींची गई लकीर तत्क्षण विलीन हो जाता है। कवि ने कहा है—

**उत्तमस्य क्षणं कोपः, मध्यप्रहरद्वयम्।
अधमस्य त्वहोरात्रं, नीचस्य मरणं ध्रुवम्॥**

हम महान व्यक्ति का कोप क्षणिक होता है। मध्यम का प्रहर तक टिकता है। अधम का गुस्सा अहोरात्र (एक रात तक) रहता है। पर नीचे व्यक्ति तो जब तक जीवित तब तक गुस्से को नहीं छोड़ता।

अस्तु, मन, वचन और काया की दुष्प्रवृत्तिमात्र हिंसा गहराई से समझना चाहिए। स्थूल हिंसाह्यप्राणविधात को सब पर वृत्तियों की हिंसा से बचना भी बहुत जरूरी है, यह समझ लोगों की बनती है। यह समझ विकसित होनी चाहिए। अपनी से पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा नहीं करनेवाला पांच इंद्रियों का संयम है तथा पृथ्वी, पानी आदि एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा न करनेवाले कायों का संयम करता है। इससे भी आगे चलें तो प्राण, मन और सत्त्व में से किसी की हिंसा न करनेवाला सर्वेन्द्रिय संयम सर्वेन्द्रिय संयम के साधक एकमात्र मुनि होते हैं।

संतों को वंदना की जाती है। वस्तुतः वह उनके शरीर अपितु संयम को की जाती है। पूजा व्यक्ति की नहीं, गुणों की जहां त्याग और संयम की प्रतिष्ठा नहीं होती, वहां सौभाग्य सो संयम की पूजा जितनी भी की जाए, वह कम है। संयमी व्यक्ति त्याग, तपस्या और संयममय संस्कृति की प्रतिष्ठा है।

चूंकि संयम अहिंसा का फलित है, इसलिए अध्यात्म के इसका सर्वोच्च मूल्य स्वयं प्रतिष्ठित हो जाता है। अहिंसा के इस को समझकर हर भाई-बहिन को इसकी यथाशक्य पालना जागरूक रहना चाहिए। यह जागरूकता उसके सुख-शांतिमय जीवन का आधार है, उज्ज्वल भविष्य की निर्मात्री है।

सब्जीमंडी, दिल्ली

१३ नवंबर १९६५

अहिंसा-विवेक

४५ : आत्म-धर्म और लोक-धर्म

व्यात्म-धर्म दो भागों में विभक्त है—महाव्रत और अणुव्रत। हिंसा, चोरी, मैथुन और परिग्रहहइन पांचों का सर्वथा सेवन न करना, शांति और न अनुमोदन करना—यह महाव्रत-धर्म है। छद्मस्थता के अणुव्रत में चूक हो सकती है, लेकिन सिद्धांत सिद्धांत ही है। उसे साब से नहीं ढाला जा सकता। मान्यता के सर्वथा अनुरूप अणुव्रत-धर्म की होती है और मान्यता के अनुरूप चलने का संकल्प अणुव्रत-धर्म का। गृहस्थों के लिए भी इतना तो आवश्यक है ही कि मान्यता/श्रद्धा सही हो और क्रिया यथाशक्य। हिंसा आदि की अणुव्रत-धर्म है। गृहस्थों के कुछ आवश्यक काम अणुव्रत-धर्म के पोषक नहीं होते, फिर भी उनकी भर्त्सना नहीं की जा सकती क्योंकि वे समाज में व्यवहार्य हैं।

धर्म

दोरे सामने तीन मार्ग हैं—निषिद्ध, विहित और न निषिद्ध, न विहित। सदाचार निषिद्ध है। सदाचार विहित है। व्यवहार अनुभय है। व्यवहार मौलिक तत्त्व नहीं है, फिर भी उसका अपना एक मूल्य है। अध्यात्म-दृष्टि से वह अच्छा नहीं है, पर लोक-दृष्टि से गलत है। अतः व्यवहार का लोप नहीं हो सकता।

ही है

एक बात अवश्य समझने की है। व्यवहार हेय नहीं है, तथा मानना मिथ्यात्व है। व्यक्ति का प्रयत्न यह हो कि वह मिथ्यात्वी अणुव्रत-दृष्टिकोण गलत होगा तो मूल ही खत्म हो जाएगा। जो काम अणुव्रत-धर्म नहीं है, वह गृहस्थों के लिए धर्म कैसे होगा?

अतः गृहस्थों और साधुओं का धर्म एक ही है। अभेददृष्टि से अणुव्रत भी दोनों एक ही हैं। जहां इनको दो मानते हैं, वहां

जागो ! निद्रा त्यागो !!

पूर्ण और अपूर्ण की विवक्षा से वर्गीकरण किया गया है।

लोक-धर्म

धर्म शब्द अनेकार्थक है। लोक-व्यवहार भी धर्म माना लेकिन वस्तुतः वह गृहस्थों का आवश्यक कर्तव्य है। शादी करना, बढ़ाना, बाल-बच्चों का पालन-पोषण करना, खेती करना, करनाहये सब लोक-धर्म से जुड़ी प्रवृत्तियां हैं। हम यहां शब्दों नहीं। लोक-व्यवहार तत्त्वतः किसी के लिए आत्म-धर्म नहीं है। उसको पाप कहें तो बुरा लगता है। हमारे शब्द-प्रयोग से आघात न पहुंचे, यह ध्यान रखना भी जरूरी है।

आग जलाने और बुझाने में हिंसा है, यह सब जानते हैं। बावजूद विवाह के समय मंगल दीप जलाया जाता है। कोई उसे कारण कहे तो अमंगल माना जाता है। अतः भगवान ने कहा कि दीप को पाप का कारण मत कहो। लोग उसे मंगल-दीप माने मुनि भी उनकी भाषा में मंगल-दीप ही कहे।

यह सच है कि हमारे आध्यात्मिक मंगल चार ही हैं सिद्ध, साधु और धर्म। लेकिन लौकिक मंगल को हम अमंगल कर सकते हैं? अध्यात्म-धर्म का पालन करने पर भी लोक-व्यवहार करना अनुचित है। गृहस्थ उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। जो उपेक्षा करता है, वह लोक-व्यवहार की दृष्टि से गर्हणीय बन हर गृहस्थ समाज की सेवा लेता है। ऐसी स्थिति में यदि वह सेवा देने से पराङ्मुख होता है तो स्वयं तो बदनाम होता ही है, भी बदनाम करता है। महाव्रत मुनियों का धर्म है, अणुव्रत गृहस्थों का धर्म है और व्यवहार लोक-धर्म है। इस विवेक के साथ धर्म के हृदयंगम करने के पश्चात व्यक्ति के सामने किसी प्रकार की नहीं रहती।

सब्जीमंडी, दिल्ली

१४ नवंबर १९६५

आत्म-धर्म और लोक धर्म

४५ : जैन-एकता : क्यों? कैसे?

जैन हैं। जैन-धर्म एकता का धर्म है। वह समन्वय के आधार पर बला-पुसा है और बड़ा हुआ है। आचार्य सिद्धसेन ने भगवान की स्तुति में लिखा है **उदधाविव सर्वसिन्धवः** **स्त्वयि नाथ! दृष्ट्यः** ह्यप्रभो! जैसे समुद्र में सब नदियां समा जैसे ही संसार के सब मतवाद आप में समा जाते हैं।

तथ्यात्मक कथन जैन-धर्म के समन्वयात्मक दृष्टिकोण का प्रतीक आज जैन-धर्म के एकत्व की बात की जाती है, यह उसके प्रतीक की सूचक है।

आज से समन्वय में असमन्वय और एकता में अनेकता का प्रवेश तब से इस दिशा में परिवर्तन करने की अपेक्षा महसूस हो रही जा सकता है कि एकता का विघटन कब से हुआ।

और समन्वय

आचार्यों में जब से आग्रह पनपने लगा, तब से जैन-एकता के प्रतीक पर विघटन का धब्बा लग गया। हालांकि विचारों की एकता का खंडन नहीं है, क्योंकि विचार-वैविध्य चेतना और एकता का प्रतीक है। जो जड़ होते हैं या चेतन होने पर भी चेतन्य जाग्रत नहीं होता, उनमें विचार-वैमत्य नहीं होता अथवा चेतनों की चेतना का परिपूर्ण विकास (सर्वज्ञता) हो जाता है, विचारों में विविधता नहीं होती। शेष सभी व्यक्तियों में वैचारिक एक अवश्यंभाविता है।

आचार्यों का आग्रह जब एक सीमा को लांघ गया, तब पुनः एकता की बात हमारे सामने आई। इन वर्षों में तो जैन-एकता की बात बल पकड़ रही है। लगभग सभी चिंतनशील जैन यह अनुभव करते हैं कि समन्वय को बल मिलना आवश्यक है, क्योंकि आज के युग में जी रहे हैं, वह एकता के ही अनुकूल है। यद्यपि कुछ

जागो ! निद्रा त्यागो !!

रूढ़ विचारवाले बुजुर्ग इससे सहमत नहीं हैं, तथापि हतोत्साहित अपेक्षा नहीं है। आज युवक एकता के लिए कटिबद्ध हैं। वे हमें कि आप एकत्व की बात करें, अन्यथा हम स्वयं एक हो जाएंगे की इस बात को गंभीरता से लिया जाना चाहिए तथा सज्जत तत्परता के साथ जैन-एकता की दिशा में कार्य किया जाना चाहिए।

आचार्य समाज के पथ-दर्शक होते हैं। भविष्य में भी यह उन पर रहेगा। श्रावक-समाज आचार्यों का बहुमान करता है। चिंतन को सम्मान देता है। भविष्य में भी यह स्वस्थ परंपरा रहेगी, ऐसी आशा है। विचार-भेद और आग्रह के संदर्भ में भी को आचार्यों का पथदर्शन मिले और समाज उस पर चले, यह अपेक्षित है। हां, एक बात अवश्य ध्यान में रखने की है। आचार्य का निरूपण करें। साथ ही बागडोर अपने हाथ में रखें। गृह बागडोर सौंपने से काम नहीं होगा। साथ ही आचार्य औचित्य लंघन न करें। आचार्य तटस्थ होकर जो निर्णय देंगे, उसे नि करने में श्रावक-समाज भी सतर्क रहेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

जैन-एकता : चिंतनीय बिंदु

जैन-एकता के संदर्भ में हमारे सामने तीन प्रश्न मुख्य चिंतनीय हैं। वे हैं—

- जैन-एकता क्यों हो?
- जैन-एकता कैसे हो?
- जैन-एकता का स्वरूप क्या हो?

जैन-एकता का उद्देश्य

जैन-एकता क्यों हो, इसके उत्तर में अनेक बातें बताई जा हैं। उनमें निम्नोक्त बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

- पारस्परिक वैमनस्य का निवारण।
- सौहार्दपूर्ण वातावरण का निर्माण।
- एक दिशा में चल रही अनेक बिखरी प्रवृत्तियों का संयोजन एक शक्तिशाली प्रवृत्ति का विकास।
- सामुदायिक शक्ति का उदय।
- अन्य विद्वानों द्वारा की जानेवाली उपेक्षा, अवज्ञा अवधारणाओं से बचाव के लिए संगठित प्रतिरोधात्मक का उदय।

जैन एकता : क्यों? कैसे?—

अहिंसानिष्ठ समाज की पुनर्रचना तथा स्याद्वाद या सापेक्षवाद के सिद्धांत का सक्रिय प्रस्तुतीकरण।

जैन-धर्म के असांप्रदायिक दृष्टिकोण का प्रकटीकरण। एकता में अनेकता तथा अनेकता में एकता का प्रयोग।

वर्तमान युग व्यक्तिवादी मनोवृत्ति या विघटन का नहीं है, बल्कि एकता या संगठन का है। इस तथ्य को सामने रखते हुए उपर्युक्त को पूर्ति के लिए मैं जैन-एकता को आवश्यक मानता हूँ।

जैन-एकता कैसे हो, इस समस्या को हम आचार्यों ने अपने चिंतन में समाधान बनाया है। पारस्परिक वार्तालाप के द्वारा पिछले दिनों हम निर्णय पर पहुंचे हैं, उसे गृहस्थ-समाज को भी समझाएं, यह हमारा दायित्व है।

दशम्या

दशम्या के लिए चातुर्मास में भाद्रपद का एक दिन समग्र जैन-समाज को मान्यता प्राप्त हो, यह अपेक्षित है। एक दिन के लिए पंचमी का आयोजन आया है। कुछ लोगों का भ्रम है कि यह हमारा निर्णय है। निर्णय ही होता तो फिर इस संदर्भ में बात क्यों चलती। दूसरी बात यह है कि निर्णय देने में बहुत दिक्कत है। हम श्वेतांबरों का एक समाज आज भी इसमें कठिनाई महसूस कर रहे हैं। पर हम कठिनाई का मुकाबला करेंगे। प्रेम से सही तत्त्व को और सबको तैयार करेंगे।

एक दिन को ही महत्त्व मिले, यह आग्रह किसी का नहीं होना चाहिए। मूलभूत बात हैं शास्त्रीय आधार की। उस आधार पर जो भी निर्णय लें, वह सबको मान्य होना चाहिए। आग्रह एकता में बाधक नहीं है। अनाग्रही बुद्धि से चिंतन होना चाहिए।

परंपरा लाभप्रद नहीं

पंचमी, पंचमी और चतुर्दशीहइन तिथियों को मान्यता कब और क्यों मिलनी, यह भी अन्वेषणीय है। निरुद्देश्य किसी भी परंपरा को रचना समझदारी नहीं है। मुझे एक घटना याद आई। किसी समय में नया राजदूत आया। उसने देखा कि द्वार पर एक संतरी लगी। सदी के कारण वह ठिठुर रहा है, फिर भी अपने स्थान से हट नहीं है। राजदूत उससे प्रश्न की भाषा में बोलाह 'यहां क्यों खड़े

जागो ! निद्रा त्यागो !!

हो?’ संतरी ने कहाह‘मैं यहां सदा रहता हूं।’ राजदूत ने पूछाह‘कारण क्या है?’ संतरी बोलाह‘मैं नहीं जानता।’

राजदूत ने उसी दिन संतरी लोगों के अधिकारी से बात उससे वही प्रश्न दोहराया। अधिकारी ने भी परंपरा कहकर टाला लेकिन राजदूत ने कहाह‘तीन दिन की अवधि में तुम्हें यह बताना कि यहां संतरी को रखने का उद्देश्य क्या है।’

अधिकारी ने पुरानी फाइलें देखीं और समाधान मिल गया। वर्ष पूर्व देश की साम्राज्ञी इधर आई थी। उसने देखा कि एक एक सुंदर फूल खिला हुआ है। उसे कोई तोड़ न ले, इसलिए निगरानी के लिए उसने एक प्रहरी को वहां खड़ा रहने का आदेश दिया था। तब से लेकर आज तक एक संतरी वहां खड़ा रहा है। बंधु भी संवत्सरी से संबद्ध अपनी-अपनी परंपरा पर विमर्श करना किसी भी परंपरा को निरुद्देश्य या रूढ़ि रूप में चलाना हितकर

सामूहिक रूप प्रकट हो

थोड़े दिनों पहले सिक्खों का एक सामूहिक जुलूस निकला शायद उसे देखकर हर जैनी के दिमाग में यह विचार आया कि हम भी सामूहिक रूप से ऐसा काम करें। आज हम एक दिन महत्त्व देंगे तो युग-युग तक लोग हमको याद करेंगे। इस कार्य में बड़ी बाधा हैहसांप्रदायिक व्यामोह। मैं चाहता हूं, यह सांप्रदायिक मिटे। मैंने एक जगह लिखा हैह

**आत्मशुद्धि का जहां प्रश्न है, संप्रदाय का मोह न
चाह न यश की और किसी से भी कोई विद्रोह न
स्वर्ण विघर्षण से त्यों सत्य निखरता संघर्षों के
प्रभो! तुम्हारे पावन पथ पर जीवन अर्पण है स
निराश न हों**

यह सही है कि परंपराओं के विवादों को सुलझाने में रहती हैं। लेकिन इसीके समानांतर इतना ही सही यह भी है और शक्ति से कठिन काम भी सरल हो जाता है। अलबत्ता जैनों का यह काम दो-चार दिनों में होनेवाला नहीं है। दीर्घकालीन बाद ही परिणाम सामने आएगा। अतः हम किसी भी स्थिति में न बनें। आशान्वित रहते हुए सतत इस दिशा में आगे बढ़ते रहें।
जैन एकता : क्यों? कैसे?

त्यानुसार अपेक्षित त्याग की तैयारी भी रखें। जैन-एकता की मात्र हमारी आवाज नहीं, अपितु पूरे जैन-समाज की आवाज है, जो भी आवाज है। जनमत का सम्मान करना ही समझदारी का है।

एकता का स्वरूप क्या हो, इस समस्या पर हम लोग मिलकर सोचना चाहते हैं। इसलिए उसका अंतिम रूप से निर्णय तो बाद में, किंतु उसकी प्रारंभिक कल्पना मेरे मस्तिष्क में यह है— जैनतत्त्वविद्या के प्रसार में समान योग।

जैन-पर्वों का सामूहिक समादर।

जैनशासन के हितों का सामूहिक संरक्षण।

जो भी और भी अनेक संभावनाएं हैं। मैं विश्वास करता हूँ कि यह संगठन-पक्ष की दृष्टि से बहुत लाभदायी सिद्ध होगा।

उंड, दिल्ली

मार्च १९६५

जागो ! निद्रा त्यागो !!

४६ : आचार : साध्य भी, साधन

ठाणं में पांच प्रकार की तृण वनस्पति का उल्लेख है। वैश्वानर, बादर, प्रत्येक-साधारण आदि भेदों से वनस्पति के और भी वर्गीकरण हैं, लेकिन आज हम तृण वनस्पति की चर्चा कर रहे हैं। वनस्पति का अर्थ हैह्रबादर वनस्पति।

वनस्पति सजीव है। दशवैकालिक सूत्र में इसकी सर्जना उल्लेख करते हुए कहा गया हैह्रवणस्सई चित्तमंतं अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणंह्रवनस्पति सत्थ उसमें अनेक जीव हैं। उन जीवों का पृथक-पृथक सत्त्व है। लेकिन वे से आहत होने पर वह निर्जीव हो जाती है।

शस्त्र-प्रयोग से जीव को कष्ट होता है, प्राण-वियोजन होता जाता है। अजीव पर शस्त्रों का कोई प्रभाव नहीं होता। कपट, कुर्सी आदि वस्तुएं शस्त्रों से आहत निर्जीव वनस्पति से बनती हैं।

प्रत्येक प्राणी के लिए कुछ शस्त्र होते हैं। उनका प्रयोग होना प्राणी निष्प्राण/निर्जीव हो जाता है। मनुष्य भी शस्त्र-प्रयोग से आहत हो जाते हैं। प्राचीन काल में मनुष्य के शस्त्र थेह्रतलवार, भाला आदि। बारूद का प्रयोग जब से होने लगा, तब से बंदूक, तेंदुल गोलों का निर्माण होने लगा। और अब तो मनुष्य का भीषण अणुबम माना जाता है।

वनस्पति के पांच प्रकार निम्नोक्त हैंह्र

- अग्रबीजह्रअग्र भाग को बोने से जिसके अंकुर निकलेंगे
- मूलबीजह्रमूलह्रजड़ के द्वारा ही जो उद्भव को प्राप्त होंगे
- स्कंधबीजह्रजमीन से ऊपर और शाखाओं से नीचे, जो तना है, उसे बोने से जो उग सके।
- पर्वबीजह्रपर्व को बोने से जिसका उद्भव हो।
- बीजरूह्रबीज को बोने से जिसके अंकुर निकलेंगे।

आचार : साध्य भी, साधन भी

पांचों प्रकारों में सैकड़ों-सैकड़ों तरह वनस्पतियां आ जाती हैं।
दर्शन-ग्रंथों में इनका विस्तृत विवेचन मिलता है। आज वनस्पति-
शास्त्र लिखा जा रहा है, लेकिन प्राचीन वनस्पतियों का उल्लेख
न मिलता है। पद्मवर्णा, उत्तराध्ययन और भगवती में जिन-जिन
वनस्पतियों का उल्लेख है, उनका वर्णन वनस्पति-साहित्य में लगभग
मिलता है। संभव है, वे उस समय होती थीं, पर आज नहीं होती हैं
क्योंकि गलतों में होती होंगी, जिनका ज्ञान आधुनिक ग्रंथकारों को नहीं है।

के चार स्तर

अतिचार वनस्पति सजीव है। उसकी हिंसा से बचना हमारा आचार है। हम
अतिचार को प्रधान मानकर चलते हैं, अतः अतिचार करना नहीं चाहते।
अतिचार शब्द है अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार। चारों
शब्दों का अर्थ अतिचार से एक ही है। भेद में जाएं तो अर्थ भिन्न-भिन्न हो जाते हैं।
अतिक्रम अतिक्रम है, अतिक्रम अतिक्रम है, अतिक्रम अतिक्रम है।

अतिक्रम अतिक्रम है, अतिक्रम अतिक्रम है।

अतिचार अतिक्रम है, अतिचार अतिक्रम है।

अनाचार अतिक्रम है, अनाचार अतिक्रम है।

अतिचार अतिक्रम है, अतिचार अतिक्रम है।
अतिचार अतिक्रम है, अतिचार अतिक्रम है।
अतिचार अतिक्रम है, अतिचार अतिक्रम है।
अतिचार अतिक्रम है, अतिचार अतिक्रम है।

के पांच प्रकार

अतिचार में पांच प्रकार का आचार बताया गया है। १. ज्ञान २. दर्शन
३. तप ४. तप ५. वीर्य।

अतिचार को परिभाषित करते हुए कहा गया है।
अतिचारः, अतिचारः, अतिचारः, अतिचारः, अतिचारः।

अतिचार मुनि प्रतिक्रमण करता है, प्रतिलेखन करता है, पढ़ता है, भिक्षा
लेता है, उपदेश देता है।.....यह सब उसका आचार है। पांचों ही
आचारों के गुण हैं और जीवन की विशेषताएं हैं। ये साधन भी हैं
अतिचार भी; उपाय भी हैं और उपेय भी।

अतिचार मोक्ष का साधन है। आगे जाएं तो ज्ञान ही मोक्ष हो जाता

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

है। मोक्ष के चार भेद हैं—ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप। ये पहले मोक्ष के उपाय हैं और अंत में उपेय बन जाते हैं। मोक्ष ज्ञानमय और दर्शनमय होती है। चरित्र और तप दोनों स्पष्ट रूप से नहीं हैं। लेकिन वहां क्षायिक भाव होता है, अतः तप और चरित्र अलग कैसे हो सकते हैं?

ज्ञान का आचार

ज्ञान अभ्यास कब और कैसे करें, इस संदर्भ में शास्त्रों में **हैहकाले विणए बहुमाणे**..... हैहसमय पर विनय और बहुमान ज्ञान का अभ्यास होना चाहिए। अकाल में पढ़ने से व्यक्ति दोष होता है। हमारे व्यवहार में एक शब्द आता हैहकाल-प्रतिलेखन अर्थ हैहसमय को देखना। अस्वाध्याय-काल में स्वाध्याय करना है। अतः समय को अच्छी तरह से जानना चाहिए।

विनय का मूल्य

ज्ञान-प्राप्ति के लिए विनय और बहुमान करना बहुत आवश्यक है। विनय बिना प्रथम तो ज्ञान आता नहीं और कदाचि भी जात फलप्रद नहीं होता। विनय से अध्यापक और छात्र में तादात्म्य होता है। अध्ययन के लिए गुरु-शिष्य का तादात्म्य बहुत आवश्यक अन्यथा उद्देश्य फलित नहीं होता।

प्राचीन समय में विनय की पद्धति बहुत प्रशस्त थी। संभावित कारण यह प्रतीत होता है कि उस समय गुरु-परंपरा से ज्ञान सीखा जाता था। अब अध्ययन का माध्यम पुस्तकें बन गईं। अतः प्राचीन पद्धति छूट गई।

विनय के दो प्रकार

विनय के दो प्रकार हैं—औपचारिक और आंतरिक। नमस्कार, सम्मान में खड़ा होना, बहुमान देना आदि भी विनय हैं। औपचारिक या व्यावहारिक विनय के प्रकार हैं। मूलतः विनय में होनी चाहिए। आत्मा में जो मार्दव है, वह आंतरिक विनय है। विनय बड़ों और छोटों के प्रति नहीं, बल्कि स्वयं के प्रति होता है। शब्दांतर से हम ऐसा कह सकते हैं कि प्राणिमात्र के प्रति मृदु नाम विनय है।

विद्या और विनय

जो जितनी उच्चकोटि का विद्वान होता है, वह उतना ही

आचार : साध्य भी, साधन भी

ता है। **विद्या ददाति विनयम्** यह सूत्र इस तथ्य का द्योतक गहराई में जाएं तो विनम्रता ही व्यक्ति में ज्ञान-प्राप्ति की पात्रता है। जो विद्यार्थी अविनीत होते हैं, ज्ञान-प्रदाता का बहुमान वे वास्तव में विद्या-प्राप्ति की दृष्टि से अपात्र होते हैं।

बड़े-बड़े विद्वानों को निकटता से देखा है। उनके जीवन का अध्ययन किया है। इस अध्ययन में मैंने पाया है कि वे विनम्र रहते हैं। इसके ठीक विपरीत यह भी पाया है कि जो लोग आत्मगत नहीं कर पाए हैं, उनका व्यवहार अविनय की करता है।

नालंदा महाविहार के डायरेक्टर डॉ. शतकड़ी मुखर्जी का हमसे है। वे जितने प्रकांड विद्वान हैं, उतने ही स्वाभिमानी भी हैं, उतने विनम्र हैं कि उनके जीवन में अहंकार का अंश भी दिखाई

क्षा-आयोग के अध्यक्ष डॉ. डी. एस. कोठारी बहुत उच्चकोटि के विज्ञान और शिक्षा दोनों ही क्षेत्रों में काफी प्रगतिशील हैं। विनम्रता देखकर आश्चर्य होता है। कल वे आए तो बोलेहैं 'आपने मुर्मांस किया और मैं आपकी सेवा में उपस्थित भी नहीं हो सका मुझे अनुताप है। मेरे अंतःकरण में ग्लानि हो रही है। अब ही आने का प्रयास करूंगा।'

धर्म के बारे में उन्होंने अपने विचार रखते हुए कहाहैं 'हमारा है कि हम मनुष्य बने और इससे भी अधिक सौभाग्य यह है कि धर्म मिला।' आज के पढ़े-लिखे लोग धर्म की बात करने में करते हैं और अपने अध्ययन के अहं से अकड़े रहते हैं। उन्हें डॉ. प्रेरणा लेनी चाहिए। मैं मानता हूँ कि सच्चे जैनी वे ही हैं, जो संपन्न हैं। जैनों में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है, पर संयोजना अधिक नहीं हैं।

विनम्रता की बात मैं पुनः कहना चाहता हूँ। यह ज्ञान का आचार व्यवहार का भी बहुत मूल्यवान सूत्र है। जो व्यक्ति सहज रूप होता है, वह अपने व्यावहारिक जीवन में भी उल्लेखनीय अर्जित करता है। अपेक्षा है, विनम्रता का पूरा-पूरा मूल्यांकन उसे जीवनगत बनाए, आत्मगत बनाए।

, दिल्ली, १५ नवंबर १९६५

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

४८ : ज्ञान और दर्शन

ज्ञान और दर्शन दो तत्त्व हैं। सामान्यतः जानना ज्ञान देखना दर्शन। पूछा जा सकता है कि ज्ञान से दर्शन होता है या ज्ञान। वस्तुतः ज्ञान और दर्शन में शब्दभेद की अपेक्षा अर्थभेद क्योंकि जानना और देखना दोनों ही ज्ञान हैं। हम जानते हैं कान से, नाक से, जीभ से और स्पर्श से। देखते हैं आंख और दर्शन के आवरण दो माने गए हैं। अन्यथा वे एक ही हैं।

ज्ञान और दर्शन का भेद उनके विषय पर निर्भर करता है। विषय है अनेकता या भिन्नता और दर्शन का विषय है एकता अभिन्नता। कोई पूछ सकता है कि इन दोनों में अच्छा कौन है? इस संदर्भ में हम अनेकांतवाद के आधार पर उत्तर देते हैं। केव या भिन्नता अच्छी नहीं होती। एकत्व में भिन्नत्व और भिन्नत्व की समन्विति ही सत्य है।

हर प्रकार की एकता में भिन्नता अवश्य रहती है। आप र पहने हैं। यह एकता है। कपड़ों में भी धोती, कमीज, टोपी... यह भिन्नता है। इस सहज एकता और भिन्नता को कोई वै सकता है? खाना खा लिया। यहां खाना शब्द में एकता है। प में रोटी, सब्जी, मिठाई...खाते हैं। यह भिन्नता है। एकता और दोनों के बिना हमारा काम नहीं चलता। पर इतना आवश्यक है में परस्पर टकराव न हो।

एक सेठ के चार लड़के हैं। एक जवाहरात का काम व दूसरा कपड़े का व्यापार करता है। तीसरा दलाली करता है लकड़ी की दुकान करता है। चारों के काम भिन्न-भिन्न हैं। पर टकराव न हो तो कोई कठिनाई नहीं होती।

राजा के तीन कुमार थे। उन्हें पेड़ देखने का शौक था तीनों को क्रमशः वसंत ऋतु का, वर्षा ऋतु का और शीत ज्ञान और दर्शन

देखाया। कालांतर में वे तीनों एक साथ उद्यान में गए। वहां का पेड़ देखकर एक राजकुमार बोलाह 'यह पलाश का पेड़ है।' दूसरे दोनों राजकुमार उसका प्रतिवाद करने लगे, क्योंकि उन्होंने का पलाश नहीं देखा था।

तथ्य यह है कि वह पलाश था भी और नहीं भी। एक ऋतु का पेड़ पलाश था और दूसरी दो ऋतुओं की अपेक्षा से नहीं। यह दो भिन्नता अनेकांत के आधार पर समझी जा सकती है।

भी दर्शन है

दर्शन शब्द की यह व्याख्या एक विवक्षा से है। यहां दर्शन शब्द देखना है। दर्शन का दूसरा अर्थ हैह्रद्वे। यानी दृष्टिकोण। इन बहुत अंतर है। जहां हम देखना अर्थ करते हैं, वहां दर्शन का अर्थ कर्म से संबद्ध है। पर जहां पर इसका अर्थ हम श्रद्धा या भक्ति करते हैं, वहां इसका संबंध दर्शनमोहनीयकर्म से हो जाता है। मोहकर्म की ही एक प्रकृति है।

दृष्टिकोण का मूल्य

दर्शन में दृष्टिकोण की यथार्थता पर बहुत बल दिया गया है। तत्त्व के दृष्टिकोण सही होगा, तभी वह किसी तत्त्व को सम्यक ग्रहण कर सकेगा। यदि दृष्टिकोण गलत होगा, तो वह तत्त्व को समझ में नहीं समझ सकेगा।

न्यायाधीश किसी मामले का निर्णय करने बैठा है। दोनों पक्षों के उसके सामने हैं। यदि वकीलों की दलीलें सुनने से पूर्व दृष्टिकोण गलत बन जाता है तो उससे सही निर्णय की संभावना बेमानी है। जब वह पहले ही गलत व्यक्ति को सही मान लेता है तब चाहे उसके विपक्ष में कितनी दलीलें क्यों न प्रस्तुत की जाएं अपने पूर्व नजरिए से ही सारी बात देखेगा। इस स्थिति में न्याय करेगा, यह मुझे बताने की अपेक्षा नहीं है। इसलिए दृष्टिकोण से बचना सर्वाधिक जरूरी है।

जानने का एक बात और समझ लेने की है। ज्ञान दर्शन का अनुगामी है। यानी जिस व्यक्ति का दर्शन यथार्थ है, उसका ज्ञान ही सही होगा। जहां दर्शन असम्यक हो जाता है, वहां ज्ञान भी असम्यक होगा। मिथ्या हो जाता है। तत्त्व की भाषा में उसे अज्ञान कहते हैं। अज्ञान न जानने का नाम भी है। पर उस अज्ञान से भी मिथ्यादर्शन

जागो ! निद्रा त्यागो !!

का अज्ञान ज्यादा नुकसानदेह है। इससे एक बात स्वतः स्पष्ट है कि ज्ञान और दर्शन में पहले दर्शन होता है और फिर ज्ञान

असोच्चा केवली

असोच्चा केवली के प्रकरण में हम पढ़ते हैं कि वे कभी उपसुनते, शास्त्र नहीं पढ़ते, सत्संग भी नहीं करते, किसी भी उनका संतों से संपर्क नहीं होता। किंतु सहसा वे किसी को तप देखते हैं तो उनकी भी वैसा करने की इच्छा हो जाती है।

उसका अनुकरण करते हुए वे भी उपवास, बेला और ते हैं। दोनों हाथ ऊंचे करके खड़े-खड़े ध्यान करते हैं। इतना बल्कि इस क्रम को वे आगे-से-आगे दोहराते हैं। अज्ञानावस्था गया यह तप बाल-तप कहलाता है। किंतु इस तपस्या को करते उन्हें ज्ञान (विभंग अज्ञान) हो जाता है। जैसे, खोदते-खोदते निकल आता है, रस्सी से घिसते-घिसते कुएं की चाक में जाता है, वैसे ही तपस्या और साधना से कर्म घिसते हैं विभंग अज्ञान प्राप्त हो जाता है।

विभंग अज्ञान अवधिज्ञान के समान ही है। दोनों में अंतर है कि सम्यक्त्वी का ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है और मिथ्या ज्ञान विभंग अज्ञान। विभंग अज्ञान होने के बाद वे देखना शुरू जीव और अजीव का जानते हैं और ऐसा करने पर उनका सही बन जाता है। बस, विभंग अज्ञान अवधिज्ञान में परिणत है और वे अंतर वृत्ति से तपस्या में लग जाते हैं।

ज्ञान से तपस्या करते हुए वे क्षपक श्रेणी ले लेते हैं और कर्म को सर्वथा क्षीण करके क्रमशः वीतरागता एवं केवलज्ञान प्र हैं। इस क्रम से केवलज्ञानी बननेवाले असोच्चा केवली कहलाते ध्यान देने की बात यह है कि सम्यक्त्व आते ही उनका अज्ञ बन जाता है। इससे लगता है कि ज्ञान की अपेक्षा दर्शन की है। लेकिन यह भी ज्ञातव्य है कि यहां दर्शन ज्ञान के बाद होता वह ज्ञान विभंग अज्ञान क्यों न कहलाए, पर उससे भी जान होती ही है।

तत्त्वतः ज्ञान और दर्शन के रूप दो नहीं हैं। जानना ज्ञान श्रद्धा करना दर्शन है। जानावरणीय कर्म और दर्शनमोहनीय कर्म के पश्चात दोनों एक ही हैं। यहां केवलज्ञान और क्षायिक सम्यक्

ज्ञान और दर्शन

हो जाते हैं।

न के दो प्रकार

सम्यग्दर्शन के दो प्रकार हैं। एक सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय से प्राप्त होता है तथा दूसरा दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय से। स्थिति में अंतर है। क्षयनिष्पन्न सम्यग्दर्शन स्थायी होता है, क्षयोपशमनिष्पन्न सम्यग्दर्शन अस्थायी। यही कारण है कि एक सम्यक्त्वी के विचारों में स्थायीत्व नहीं रहता।

जैसे मैंने आज किसी तथ्य पर कोई निर्णय दिया। पांच वर्ष बाद हमें पता चला कि हमारा वह निर्णय ठीक नहीं था। तब हमने उसको बदल दिया। कुछ समय बाद हमने पूर्व निर्णय को ही मान्यता दे दी, क्योंकि तथ्य की प्रकृति के उदय और क्षयोपशम का क्रम चालू रहता है। कभी-कभी भी होता है कि दो क्षण पहले एक तथ्य सही समझ में आता है, कुछ क्षण बाद उसकी विस्मृति हो जाती है। पर यह सलक्ष्य करने से बचना चाहिए। आकस्मिक उदय और क्षयोपशम की यह परिणति है।

जैसे मैंने एक मंढक तालाब की काई में फंसा हुआ था। उसे पता नहीं था कि क्या है। एक बार हवा के झोंके से काई हटी तो उसने देखा कि आकाश है, हवा है, धूप है, और भी बहुत-कुछ है। उसने देखा कि सब-कुछ मैं अपने परिवार को दिखाऊंगा। वह नीचे गया तो अपने परिवार के सदस्यों को लेकर आया। पर तब तक काई पुनः उदय नहीं हुई थी। अब उसे ऊपर कुछ भी दिखाई नहीं दिया। यह उदय और क्षयोपशम पर दिया जाता है। निर्णय बदलने का क्षयोपशम पर आवरण।

जैसे मैंने अधिकृत व्यक्ति जिन बातों का एक समय खंडन करता था, तब मैंने ही का मंडन करने लगता है। हालांकि ऐसी स्थिति में साधारणतया के लिए यह एक समस्या बन जाती है कि वह किसे सही मानेगा। मैंने गलत। लेकिन वास्तव में उसने कल जो कहा था, वह भी सही है और आज जो कहता है, वह भी सही है, क्योंकि दृष्टिकोण ही है। यदि दृष्टि में पक्षपात रहे, दृष्टिकोण मिथ्या हो तो वह सही हो सकता है। किंतु निष्पक्ष चिंतन से जो निर्णय लिया जाता है, गलत नहीं होता। आचारांग सूत्र में कहा गया है कि सम्यक हो सलक्ष्य, यदि व्यक्ति उसे तटस्थ दृष्टि से सम्यक मानता हुआ सलक्ष्य रूपण या आचरण करता है तो वह सम्यक ही है।

— जागो ! निद्रा त्यागो !!

तेरापंथ संघ का इतिहास इस बात का साक्षी है। 3 पचासों बातों में परिवर्तन हो चुका है। एक समय अन्य संघों के साथ साधु-साधवियों के साथ बैठना कल्प्य नहीं माना जाता था। विद्वानों के साथ बैठकर व्याख्यान देते हैं। इस स्थिति में कुछ लोग लगे हैं कि महाराज बदल गए। उनका कहना भी ठीक है और हमारा भी ठीक है। हम गृहस्थों के साथ बैठकर भाषण देते हैं, पिछले हमारा क्या विरोध है?

सम्यक्त्व और शिष्टाचार

सभी संप्रदायों की अपनी-अपनी परंपराएं होती हैं। सुरक्षा आवश्यक समझते हैं। पर क्या अपनी-अपनी परंपराओं के बीच हुए परस्पर प्रेम से नहीं रहा जा सकता? समन्वय नहीं रह सकता? मुझे इसमें कोई कठिनाई नहीं लगती।

सामान्यतः आम धारणा यह बनी हुई है कि दूसरे संप्रदायों के मुनियों को हाथ जोड़ने से सम्यक्त्व चला जाता है। यहां यह आवश्यक है कि किस वृत्ति से हाथ जोड़ा जाता है। सहजता से हाथ जोड़ना समाज का शिष्टाचार है। गृहस्थ इससे ऊपर उठे हुए किसी संप्रदाय के मुनियों के पास जाना और वहां अशिष्टता का अनुभव आना, उनकी विधि का पालन न करना ठीक नहीं है। वहां जाकर उनकी तरह खड़े रहना अपनी अशिष्टता को प्रदर्शित करना है।

आप मंदिर में गए। मूर्ति की पूजा करने की आपकी मान्यता है। इसलिए आप मूर्ति की पूजा नहीं कर सकते। पर मूर्ति को खड़े होना भी अनुचित है। आप मूर्ति को भगवान नहीं मानते। लाखों आदमी मानते हैं। इसलिए आप ऐसा कोई व्यवहार न करें, उन्हें अखरे। आपको वहां के शिष्टाचार की विधि का अतिक्रमण करना चाहिए। विधि का भंग करने से परस्पर विग्रह हो जाता है।

मूर्ति, मूर्ति है, भगवान नहीं है। आपकी यह श्रद्धा स्थिर रहनी चाहिए। कोई कठिनाई नहीं है। पर व्यवहार का लंघन सबको अखरता है। अपनी श्रद्धा को दृढ़ रखते हुए व्यवहार को निभाया जाता है। सम्यक्त्व में कोई बाधा नहीं आती।

आप दूसरे-दूसरे संप्रदायों के लोगों के बीच जाते हैं और समय अकड़े रहते हैं तो आप लोगों को रोष आता है। उचित आपको सोचना चाहिए कि हम ऐसा करते हैं या नहीं। यह ज्ञान और दर्शन

पर आपको रोष आता है तो आप पहले स्वयं शिष्टाचार सीखें।
कल स्थिति बदल रही है। लोगों में कट्टरता कम हो रही है। मैं
, यदि शिष्टाचार का ध्यान रहे तो परस्पर होनेवाली कटुता को
अवसर नहीं मिलता।

: मोक्ष का प्रवेश-द्वार

एकोण का सम्यक्त्व ही दर्शन है। निःशंकित, निष्कांक्षित आदि
आठ आचार हैं। प्रभावना भी एक आचार है। पर वह आचार
जब व्यक्ति की दृष्टि सही हो। यदि दृष्टि सम्यक नहीं है तो वह
नहीं हो सकता। यही बात साधर्मिक वात्सल्य के संबंध में है।
सम्यक होने पर ही वह दर्शनाचार बनता है। अपेक्षा है, हर
न अपनी दृष्टि को सम्यक बनाए और दर्शनाचारों का पालन
न रहे, सम्यक दृष्टि की प्राप्ति के बिना कोई प्राणी कभी संसार
नहीं हो सकता। इससे संपन्न होने के बाद ही व्यक्ति के लिए
द्वार खुलता है। इसी अपेक्षा से सम्यक्त्व को मोक्ष का प्रवेश-
जाता है।

, दिल्ली

र १९६५

जागो ! निद्रा त्यागो !!

४९ : चारित्र और योग-विद्या

मनुष्य का इतिहास जितना प्राचीन है, उतना ही प्राचीन चारित्र का इतिहास है। पांच आचारों में चारित्र एक आचार है। चारित्र और आचारह्वये दोनों शब्द भिन्नार्थक हैं। यदि ये एकार्थक होते तो चारित्र आचारह्वयेसा प्रयोग नहीं होता।

नया कुछ नहीं है

चारित्रहीनता को अनाचार माना गया है। दुराचार, भ्रष्टाचार, अनाचार शब्द भी चारित्र की कमी के परिचायक हैं। प्राचीन समय में चारित्र सर्वोच्च मूल्य था। पर आज वह मूल्य समाप्त-सा हो गया है। प्राचीन समय पर नए मूल्य स्थापित होते रहते हैं और प्राचीन विस्मृत हो जाते हैं। आज चारित्र के प्राचीन मूल्य के पुनःप्रस्थापन की आवश्यकता है। जैसे नवीनता और प्राचीनता में ज्यादा अंतर है भी नहीं। अति नया तत्त्व नया हो जाता है और अति परिचित प्राचीन। मेरी समझ में नया तत्त्व कुछ नहीं है। आवश्यकता, उपयोगिता और धर्म आधार पर नए और पुराने के बीच भेद किया जाता है।

चारित्र का आचार

चारित्र का अर्थ हैहसंयम की साधना, नियंत्रण, व्रत और चारित्र का आचार हैहसमितियों और गुणधर्मों की आराधना। चारित्र केवल प्रवृत्त्यात्मक या केवल निवृत्त्यात्मक नहीं है। वहां निवृत्ति प्रवृत्ति और प्रवृत्ति-संवलित निवृत्ति रहती है। निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति प्रवृत्ति से सत्प्रवृत्ति का निरोध होता है। व्यक्ति प्रवृत्ति बोलना है तो उसे असत्य को छोड़ना होगा। निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति भी होती। असत्य छोड़ना है, वहां सत्य बोलने में अवरोध नहीं होता।

समग्र दिनचर्या संयत हो, इसका नाम है समिति। दिनचर्या मुख्यतः पांच भाग हैहचलना, बोलना, खाना, उपकरण-प्रयोग, उत्सर्ग। ये प्रवृत्तियां जन्म से मृत्यु तक व्यक्ति के साथ जुड़ी हैं। चारित्र और योग-विद्या

होते ही हलन-चलन करता है, अव्यक्त वाणी बोलता है, उसे कपड़े भी पहनाए जाते हैं और वह उत्सर्ग भी करता है। र्म में एक बात समझने की है। यदि चलना, बोलना आदि संयत हों तो वे चरित्र के आचार हैं, अन्यथा अनाचार हैं।

चारित्र्याचार की विधि संतों को बताई जाती है। आचार्य अपने जो विधि का विवेक देते हैं और वे स्वयं अपने-अपने आचार्यों विवेक पाते हैं। यह क्रम तीर्थकरों तक चला जाता है। प्रज्ञापक ने शिष्य से कहते हैं **हंसुयं मे आउसं! तेणं भगवया यं**.....हहे शिष्य! मैंने सुना है, तीर्थकरों ने ऐसा कहा है।..... में अनंतर कारण आचार्य हैं और परंपर कारण तीर्थकर हैं।

टी बातों का मूल्य

र्थकर भी अपने शिष्यों को छोटी-से छोटी बात सिखाते हैं। हम प्रधानाध्यापक भी कभी-कभी प्राथमिक कक्षाओं के छात्रों को क्योंकि संस्कार-निर्माण के लिए ऐसा करना आवश्यक होता है। और आचार्यों की शिक्षा जीवन की सबसे बड़ी खुराक होती है। सबसे पहले अपने शिष्यों को सिखाते हैं **देवाणुप्पिया! एवं , एवं भुंजियव्वं, एवं भासियव्वं, एवं सयियव्वं, एवं**..... हइस ढंग से ठहरना चाहिए, इस ढंग से खाना इस ढंग से बोलना चाहिए, इस ढंग से सोना चाहिए, इस ढंग चाहिए.....

तुत: ठहरना, खाना, बोलना, सोना, बैठना आदि छोटी-छोटी पर जीवन-निर्माण की दृष्टि से ये अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। छोटी इनकी उपेक्षा करना भयंकर भूल है। वस्तुतः जीवन छोटी-छोटी ही बनता है। एक अपेक्षा से छोटी-छोटी बातों की उपेक्षा करना उपेक्षा करना है। मैं नहीं समझता, जो छोटी-छोटी बातें ही ंगे, वे बड़ी-बड़ी बातें कैसे सीखेंगे।

गांधीजी का

ात्मा गांधी का जीवन प्रयोगात्मक था। वे छोटी-से छोटी बात गिक प्रशिक्षण देते थे। श्री श्रीमन्नारायण जब हमसे मिले तो मुनायाह'में ग्रेजुएट बनकर आधुनिक वेश-भूषा में गांधीजी के वा। वहां जाकर बैठा तो गांधीजी ने प्रश्न कियाहकहां से आए

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

हो? मैंने कहाहकॉलेज में पढ़कर आया हूं। गांधीजी ने अग
कियाहकिस उद्देश्य से आए हो? मैंने कहाहआपसे शिक्षा प्राप्त
लिए। तब गांधीजी ने सामने पड़े फावड़े की ओर देखते हुए क
लेने आए हो तो जाओ, एक काम करो। यह फावड़ा हाथ
सामने की मिट्टी खोदो। गांधीजी का यह आदेश सुनकर मैं
गया। मन में आया, यह क्या! आज तक पढ़ा और काम
मजदूर का! मिट्टी खोदना मेरे लिए मुश्किल हो गया। बावजू
आदेश था, अतः जैसे-तैसे खोदना शुरू कर दिया।’

श्रीमन्नारायण ने आगे कहाह‘उस समय मैं रहस्य को प
पाया। बाद में वह पकड़ में आया। गांधीजी का चिंतन था कि
लिखकर मात्र क्लर्क न बन जाए। इसके जीवन के साथ श्र
वस्तुतः श्रम करने से कोई आदमी छोटा नहीं होता, बल्कि उस
अधिक सार्थक बन जाता है। जो व्यक्ति श्रम नहीं करते, उनका
केवल दूसरों के लिए, अपितु स्वयं उनके लिए भी भारभूत बन
मुझे जीवन का यह दर्शन समझाने के लिए ही गांधीजी ने सल
आदेश दिया था।’

कोई काम छोटा नहीं होता

मैं तो यहां तक सोचता हूं कि पढ़कर काम से जी चुरना
अपमान करना है। जिस व्यक्ति को काम करने में लज्जा महसूस
है, वह अध्ययन कर ही नहीं सकता। पूज्य गुरुदेव कालूगणी
शिक्षा देते हुए बहुधा फरमाया करते थे कि साधु का छोटे-से-छ
बड़ा है। कचरा निकालना, सफाई करना, परिष्ठापन करना आ
को छोटे कार्य मान जो साधु इन्हें नहीं सीखता, वह दूसरे का
अधूरा रह जाता है। संघ के प्रत्येक साधु को विधि के अ
काम अनिवार्य रूप से करना होता है। परस्परता के नाते कोई
काम करे दे, यह दूसरी बात है, लेकिन श्रम का मूल्य सबके लि
रूप से है।

कल ही एक शैक्ष साधु को बोध-पाठ देते हुए मैंने कहाह‘
बारहवीं कक्षा तक पढ़े हो। अध्ययन काम की चीज है। पर क
में शर्म महसूस होगी तो अध्ययन बेकार हो जाएगा। अतः
छोटा नहीं समझना चाहिए।’

हमारे इस चिंतन से समाज को भी श्रम की प्रेरणा मिल

चारित्र और योग-विद्या

सब पूर्व धारणाओं में परिवर्तन आ रहा है। व्यक्ति काम करे या न करे, पर उसमें शर्म महसूस न हो, यह नितांत अपेक्षित है। सब व्यक्ति व्यापारी नहीं होते, सब कृषिकार तथा रसोइए भी हैं, तथापि समय पर परमुखापेक्षी रहना अच्छा नहीं है।

और गुप्ति का मूल्य

सब बातें मैंने प्रासंगिक तौर पर कहीं। हमारा मूल प्रतिपाद्य आचार। जैसाकि मैंने प्रारंभ में कहा, समितियों और गुप्तियों की आचार-विधि का आचार है। अतः मुनि देखकर चले, विचार कर लें। गृह-आहार-पानी विधिवत लाए और उसका विधिपूर्वक उपयोग करें। पांशुओं में गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा में सावधानी रखें। काम को लेने में, साफ करने में और रखने में विधि का ध्यान रखें। सर्ग कहां और कैसे करना चाहिए, इसका विवेक रखें। ये पांच गुण हैं। इनके बाद तीन गुप्तियां हैं। साधु मन, वचन और काया रक्षण रखें।

सांकि यह आचार संतों का है। पर इसका पालन करना सबके लिए आवश्यक है। हर काम में सावधानी रखने से गृहस्थ का घर स्वर्ग का अंश हो सकता है। इसका विपरीत असावधानी से नरक। गृहस्थों में भी पांच गुण का अंश हो सकता है। आचार के अनुसार काम करने से भी सुंदर हो सकती है। इन सब कामों में खान-पान का विवेक ही आवश्यक है।

ऊनोदरी करते थे

मैं ही हमने आचारांग सूत्र में पढ़ा कि भगवान महावीर ऊनोदरी क्यों? क्या वे बीमार थे? नहीं, बीमारी भगवान से दूर रहती थी। यह ज्ञातव्य है कि रोग दो प्रकार के होते हैं—आगंतुक और अजात। अजात रोग असावधानीजन्य रोग भगवान को कभी नहीं सताते थे, आगंतुक रोग असावधानीजन्य रोग रहन-सहन और खान-पान की खराबी से भगवान पूर्णतः सजग थे, इसलिए असावधानीजन्य रोगों का उन पर नहीं होता था।

मैंने भी कौले डालना, आग लगाना आदि आगंतुक रोग हैं। मैंने तेजोलेश्या से भगवान के शरीर को झुलसा दिया, वह व्याधि थी। ऐसी स्थिति कभी-कभार हो जाती थी। पर मैंने वे नीरोग रहते थे। लेकिन बीमार न होने पर भी भगवान

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

आत्म-साधना की दृष्टि से सदा ऊनोदरी करते थे।

व्यक्ति स्वास्थ्य के दूसरे-दूसरे नियमों का पालन करे स करे, केवल संकल्पपूर्वक ऊनोदरी भी करे तो वह बहुत-से रोगों सहजतया बच सकता है। कई व्यक्ति रोगों को निमंत्रण देते हैं देने से पाहुने क्यों नहीं आएंगे? जिनका रहन-सहन खराब है, असंयमित है, वे रोगों के शिकार क्यों नहीं बनेंगे?

साधु सिद्ध नहीं होते। वे साधना करते हैं। उनसे भी साधना सकती है। वे अपने रहन-सहन और खान-पान में सावधानी पर कभी-कभी असावधानी भी हो सकती है। असावधानी का भी मिल जाता है। लेकिन कहीं-कहीं सावधानी रखने के बावजूद बिगड़ जाता है, यह हाथ की बात नहीं है। बेमेल भोजन और असमय का ध्यान न रहने से स्वास्थ्य पर बुरा असर होता असावधानीजन्य रोगों से बचाव किया जा सकता है।

धर्म का मूल्य

धर्म एक ऐसा तत्त्व है, जिसमें विभिन्न समस्याओं को करने की अब्दुत शक्ति है। आज धर्म को रूढ़ बना दिया गया उससे सीधा समाधान नहीं मिलता। किंतु जीवंत और जा आत्मशुद्धि के साथ-साथ सामयिक समस्याओं का समाधान भी दे

योग-विद्या की उपयोगिता

योग-साधना आचार है और धर्म भी। इससे अनेक उलझ सकती हैं। बैंगलोर से श्री कृष्णमूर्ति हमारे पास आए और अमेरिका, जर्मनी आदि देशों में गया। वहां मैंने योग-विद्या प दिए। इस विद्या के प्रति लोगों का आकर्षण और दिलचस्पी के प्रति लोग काफी आकर्षित हैं। जैन-धर्म में योग का अच्छ है। मैं जैन-योग के बारे में एक पुस्तक लिखना चाहता हूं प्रकाशन ई. स. १९६६ में बाहुबलि के महामूर्धाभिषेक के अ होगा। इसमें जैन-योग से संबद्ध एक लेख आपका भी आवश्यक

मैंने कहाह्ण'ध्यान के प्रति विदेशी लोगों का जो आकर्षण निष्कारण नहीं है। अमेरिका में बड़े-बड़े धनवानों को शांति इसलिए वे ध्यान करना चाहते हैं। ध्यान से उनको शांति मि जैन-योग पर काम करने का आपका प्रयत्न अच्छा है। इस चरित्र और योग-विद्या—

‘योजित सहयोग आपको प्राप्त हो सकेगा।’

‘ओ! मुझे बड़ा आश्चर्य है कि दूसरे-दूसरे देश तो भारत से कुछ लेते हैं और यह विदेशों से सीखना चाहता है! हालांकि तत्त्व की और देने में उदार रहना कोई गलत मनोवृत्ति नहीं है, तथापि हमारे पास बहुतायत में है, उसे पाने के लिए हम दूसरों की न देखें?’

‘योग-विद्या योगियों के लिए ही है, यह प्राचीन धारणा थी। लेकिन तत्त्व सार नहीं है। योग-विद्या के अध्ययन से हमने पाया है कि काम के लिए काम की चीज है। योग-साधना मूलतः धर्म का ही है। धर्म जब सब के लिए काम का है तो योग-विद्या काम की होगी? यह दूसरी बात है कि हर व्यक्ति इसमें पारंगत हो सकता।’

‘योग-विद्या को व्यापक बनाने के लिए भी हमें प्रयास करना है। प्राणायाम, ध्यान, धारणा आदि का सतत अभ्यास करने से आत्मगत होती है। सलक्ष्य योग-साधना करनेवाले आत्मशुद्धि साथ स्वास्थ्य-लाभ भी पाते हैं। हालांकि स्वास्थ्य-लाभ की बात तथापि जनसामान्य के लिए यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। लोग आध्यात्मिक मूल्य समझते हैं, उनके लिए तो यह मूल्यवान तत्त्व है।’

‘, दिल्ली

‘र १९६५

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

५० : तप और उसका आचार

मोक्ष के चार प्रकार हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप। इन चारों में तप का क्षेत्र लंबा है। ज्ञान और दर्शन दोनों एक मिथ्यात्वी अलभ्य हैं और चारित्र श्रावक के लिए भी अप्राप्य है। किंतु करनेवालों में मिथ्यात्वी, सम्यक्त्वी, श्रावक, प्रमत्त साधु, अप्रमत्त अवेदी, वीतराग और केवली सभी होते हैं। एक केवलज्ञानी को भी जितना अधिकार प्राप्त है, उतना ही एक मिथ्यात्वी को भी

तप एक ऐसा तत्त्व है, जो बहुतेकों को मार्गानुसारी बनाता है। तपस्या से कर्म हलके होते हैं, फलतः व्यक्ति ऊपर उठकर ज्ञान और दर्शन के लिए भी रास्ता खोल लेता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र का क्रमशः कठिन, कठिनतर तथा कठिनतम हैं, लेकिन तपस्या बहुत ही सरल है। जो व्यक्ति ज्ञान की विशेष आराधना नहीं करते, जिनकी चेतना गहरी नहीं है, वे भी पक्ष, मास और चार महीने तक की तपस्या कर लेते हैं। इससे लगता है कि ज्ञानादि की अपेक्षा तप का मार्ग

ज्ञानरहित तप

तप के संदर्भ में एक बात बहुत महत्वपूर्ण है। ज्ञानरहित तप व्यक्ति के आत्मोदय का हेतु है ही, ज्ञानरहित तप भी एक सच्चा आत्मोदय का हेतु है। हम इस बात को अच्छी तरह से जानना चाहते हैं। प्रत्येक प्राणी में विकास का थोड़ा-बहुत अंश रहता ही है। जिस प्राणी में भी विकास नहीं होता, वह चेतन भी नहीं हो सकता। संसारी प्राणी सबसे कम विकसित हैं—पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा और वनस्पति जीव। इन्हें केवल स्पर्श का ज्ञान होता है। हमारी मान्यता के अनुसार स्थावर जीव कभी त्रस भी बन सकते हैं। पेड़-पौधों के जीव मनुष्य भी बन सकते हैं।

यह तो स्पष्ट है कि ये स्थावर जीव ज्ञान की आराधना नहीं करते। दर्शन और चारित्र की आराधना भी नहीं करते। शुभ

तप और उसका आचार

रा होती है, इस तथ्य से भी वे अनभिज्ञ हैं। ऐसी स्थिति में तपस्या भी करने की उनकी स्थिति नहीं है। फिर इन जीवों का आधार क्या है? इसका उत्तर यह है कि स्थावर जीवों के तप होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो सहज तप होता है। पेड़-पौधों में सर्दी सहन करते हैं और गर्मी में गर्मी। घास, अनाज आदि का रौंदा जाता है। इसी प्रकार पानी, अग्नि तथा वायुकाय के तप के प्रकार के कष्ट सहन करते हैं। इससे उनके सहज तप होता है। तप ज्ञानरहित होने के बावजूद उनके आत्मोदय का हेतु बनता है। अज्ञान लोग ज्ञानरहित तप में कर्म-निर्जरा नहीं मानते। पर आचार्य ज्ञानरहित तप को भी कर्म-निर्जरा का हेतु स्वीकार किया है। तप धर्म का अंश माना है। उन्होंने उदाहरण दिया हूँ 'दो व्यक्तियों को ज्ञान प्राप्त है। एक व्यक्ति गंतव्य का रास्ता जानता है, अतः वह सीधा गंतव्य तक जाता है। दूसरा व्यक्ति मार्ग न जानने के कारण मार्ग में भटक जाता है तथापि भटकते-भटकते आखिर गंतव्य पर पहुंच जाता है।'

दूसरी बात स्पष्ट करते हुए आचार्य भिक्षु ने आगे कहा हूँ 'चाहे तप भटकते-भटकते गंतव्य तक पहुंचा, पर इसमें बुराई क्या है? तप प्रक्षय-प्राप्ति तो हो ही गई। इसी प्रकार ज्ञानरहित तप भी व्यक्ति को ज्ञानप्राप्ति के लिए तैयार बनाने में हेतुभूत बनता है।'

ज्ञानरहित तपस्या अच्छी है

ज्ञानरहित तप में भी विवेक की बहुत अपेक्षा है। विवेकपूर्वक की तपस्या अधिक फलप्रद होती है। एक व्यक्ति तपस्या तो करता है, तपस्या त्राहि करके रात-दिन व्यतीत करता है। दूसरा व्यक्ति तपस्या के तप प्रयास, ध्यान और चिंतन-मनन भी करता रहता है। उन दोनों तपस्या में लाख हाथ का अंतर है।

एक साध्वी अणचांणी ने छह मास की तपस्या की। छह महीनों के तपस्या में एक दिन भी ऐसा नहीं गया होगा, जिस दिन उन्होंने आठ-दस घण्टा तपस्या प्रयास, ध्यान आदि नहीं किया हो। मुझे ऐसी तपस्या बहुत पसंद है। तपस्या में भूख लगती है, उसे समभावपूर्वक सहना ही तप है। तपस्या में तप नहीं रहती है तो अध्यवसाय खराब हो जाते हैं। इस स्थिति में तपस्या फलप्रद नहीं होता। इसलिए तपस्या करनेवाले भाई-बहनों से मैं तपस्या का आग्रह करता हूँ कि वे अपना विवेक जाग्रत करें। त्राहि-त्राहि कर

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

तपस्या करना अच्छा नहीं है। सहजभाव से समतापूर्वक जितनी होती है, वह अच्छी है। आत्मश्रद्धा दृढ़ हो तो वे उपवास, बेला अवश्य करें, अन्यथा तप के दूसरे-दूसरे प्रकार बहुत हैं। आप सोचें कि उपवास, बेला आदि करना ही तपस्या है। भगवान ने बारह प्रकार बताए हैं। न खाना तप है, उसी प्रकार खाने में कमी भी तप है। कई बार तो ऐसी अनुभूति होती है कि न खाने व पीने भी मनोगत भोजन में कमी करना ज्यादा कठिन है। अतः जो तप कर सके, वह ऊनोदरी तप करे।

ऊनोदरी : रस-परित्याग

मैं देखता हूँ, लोग दिन में पचासों तरह की वस्तुएं खाने में लेते हैं। इस स्थिति में यदि कोई यह संकल्प करे कि पंद्रह पांच द्रव्यों से अधिक नहीं खाऊंगा तो यह भी एक प्रकार का तप है। खाने-पीने में द्रव्यों की संख्या और मात्रा को सीमित आत्मिक दृष्टि से तो लाभकारी है ही, स्वास्थ्य की दृष्टि से भी है। अधिक खाने का अर्थ हैहज्जीभ की इच्छापूर्ति करना। आप पेट को स्वाद नहीं चाहिए। स्वास्थ्य को भी स्वाद नहीं चाहिए। जीभ को। एक जीभ के लिए असंयम को पोषण देना, जीभ की परवाह न करना, कहां की समझदारी है?

मात्रा और संख्या की कमी करने की तरह ही अपने लिए कोई खाने-पीने की वस्तु नहीं बनवाना, कोई बना दे तो न खाने-पीने का भोजन की थाली में जो कुछ आ जाए उसी में संतुष्ट रहना, मजबूत लेना, बचा-खुचा खानाहयें सब ऊनोदरी तप के अंतर्गत हैं। व घी, मिठाई आदि का परित्याग करना रस-परित्याग है।

विधि का पालन आवश्यक है

खाद्य संयम की तरह प्रतिसंलीनता, स्वाध्याय, ध्यान वैयावृत्य आदि भी तप के विभिन्न प्रकार हैं। उपासना भी यदि की जाए तो वह एक प्रकार का तप है। विधिपूर्वक धार्मिक करने का मूल्य यों तो हर युग में ही है, पर वर्तमान वैज्ञानिक उसका मूल्य बहुत अधिक हो गया है। अविधि से किया गया व्यक्ति के लिए लाभप्रद नहीं होता।

सामायिक करने की भी हमारी एक निश्चित विधि है।

तप और उसका आचार—

स्थान का प्रमार्जन किए बिना नहीं बैठना, प्रत्याख्यान और
करना आदि बातें उसके अंतर्गत आती हैं। इनका सलक्ष्य
पूर्वक पालन होना चाहिए। इसी प्रकार स्वाध्याय, ध्यान, जप
विधियों का भी सम्यक निर्वाह होना आवश्यक है।

अपेक्षित है

भूत बात है विवेक-जागरण की। हमारी कोई भी धार्मिक क्रिया
होनी चाहिए। जहां विवेक जाग्रत होता है, वहां किसी भी
रूढ़ता नहीं आती। किंतु जहां विवेक सुप्त होता है, वहां
वृत्ति भी रूढ़ बन जाती है। और रूढ़ बनने के पश्चात उससे
लाभ प्राप्त नहीं होता। बारह प्रकार के तप भी विवेकपूर्वक
तपाचार है।

स्या के बारे में जैसाकि मैंने कहा, वह सहजता से जितनी हो
नी करनी चाहिए। इस दिशा में विवेक जगाने की बहुत अपेक्षा
सहजता का अर्थ यह नहीं कि इस दिशा में कुछ किया ही न
ह तो अनर्थ है। कुछ बातों की अनिवार्यता भी अपेक्षित है। मैं
हूं, आजकल कुछ पढ़े-लिखे लोग संवत्सरी का उपवास करना
चाहते। यह कहां तक उचित है? क्या वे लोग अनाज के कीड़े
क दिन भी उसके बिना नहीं रह सकते? वस्तुतः यह मानसिक
है, अन्यथा साल में एक उपवास तो बहुत छोटी बात है। महीने
उपवास भी थोड़े अभ्यास के बाद आसानी से किए जा सकते
ऐसा अनुभव है कि महीने में एक-दो उपवास करने से न केवल
शक्ति बढ़ती है, बल्कि शरीर भी बहुत-सी बीमारियों से
प में बच जाता है। इसलिए प्रत्येक भाई-बहिन को इसका
अभ्यास अवश्य रखना चाहिए, करना चाहिए।

: तीन प्रकार

स्वी तीन श्रेणियों में विभक्त हैं—ह्रस्व तपस्वी, बालपंडित तपस्वी
तपस्वी। कई व्यक्ति अज्ञान तप करते हैं—धूप में सूखते रहते
मुंह वृक्ष के लटक जाते हैं; सर्दी में तालाब में निर्वस्त्र खड़े रहते
कई कंदाहारी, मूलाहारी, फलाहारी, त्वचाहारी और वायुभक्षी
पंचाग्नि तप तपते हैं। अज्ञान से तपस्या करने के कारण ये सब
स्वी हैं। अग्नि तप और कंदमूल आदि खाने से अग्नि, वायु,
आदि जीवों की हिंसा होती है, अतः यह बाल-तप है। जिस

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

तप से औरों को पीड़ा हो, उससे बचते रहना चाहिए। श्रावक तपस्वी होते हैं और साधु पंडित तपस्वी।

तपस्या धर्म का एक अंग है। जहां धर्म की सुगम व्याख्या जाती है, वहां अहिंसा और संयम के साथ-साथ तप को भी प्रोत्साहित किया गया है। इससे तप के महत्त्व को आसानी से समझा जा सकता है। अपेक्षा है, धर्म के इस सार्वभौतिक एवं सर्वाधिक सुगम प्रकार को प्रतिष्ठा हो। लोग उसका उचित मूल्यांकन करें। उचित मूल्यांकन है कि वे उसे अपने जीवन का एक अनिवार्य अंग बनाएं। अपनी-अपनी आत्मा को स्फटिक-सी निर्मल बना सकेंगे।

सब्जीमंडी, दिल्ली

१८ नवंबर १९६५

तप और उसका आचार

५१ : शक्ति का सदुपयोग हो

शरीर और आत्मा कथंचित भिन्न-भिन्न हैं और कथंचित अभिन्न। जड़-निष्पन्न है और आत्मा चेतनावान है। आत्मा सशरीरी भी और अशरीरी भी। अशरीरी आत्मा मुक्तात्मा कहलाती है और आत्मा संसारी शब्द का वाच्य है। आत्मा और शरीर दोनों के नया रूप बनता है, जो न केवल जड़ है और न केवल चेतन। चेतना और चेतना का मिला-जुला रूप हमारे सामने है। हालांकि दृष्टि से आत्मा अमूर्त है। वह कभी मूर्त बनती नहीं। बावजूद शरीर से संपृक्त होने के कारण उसे भी मूर्त बता दिया गया है। अमूर्त है। पर साहित्यकारों की भाषा में वह नीला है। यह पुद्गलों के संपर्क से बताई जाती है। इसी प्रकार मूर्त शरीर से कर अमूर्त आत्मा भी मूर्त बन जाती है।

: प्राण

शरीर क्रियाएं व्यवहाराश्रित हैं। इसलिए केवल आत्मा या केवल हम काम नहीं कर सकते। आत्मशक्ति और शरीर-शक्ति दोनों संबद्ध हैं। शारीरिक शक्ति को तत्त्व की भाषा में पर्याप्ति कहा आत्मशक्ति को प्राण की अभिधा दी गई है। जीवन की हर पर्याप्ति और प्राण दोनों का समान रूप से योग होता है।

प्राणी एक स्थूल शरीर छोड़कर दूसरी शरीर धारण करता है, य जीवन-धारण में उपयोगी पौद्गलिक शक्ति को ग्रहण करता उपयोगी पौद्गलिक शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं। आहार, शरीर, प्रासोच्छ्वास, भाषा और मनह्वये छह पर्याप्तियां हैं। आहार के प्राण किए जानेवाले पुद्गलों को अथवा उनकी शक्ति को आहार कहते हैं। आहार का अर्थ हैहौदारिक, वैक्रिय और आहारक अथवा छहों पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल। आहार पर्याप्ति पूर्ण प्राणी शेष शरीर आदि पांचों पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों को

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

ग्रहण कर लेता है। इस पर्याप्ति के द्वारा प्राणी जीवन-पर्यंत आहार करने की शक्ति अर्जित कर लेता है। आहार को पचाना, उसे मल-मूत्र के रूप में विभाजित करना तथा मल-मूत्र को करनाहये क्रियाएं इसी पर्याप्ति के द्वारा संपादित होती हैं।

शरीरपर्याप्ति उस पुद्गल-समूह को कहते हैं, जिससे शरीर पुद्गलों व उसके आंगोपांगों की रचना की क्रिया पूर्ण होती है। आदि इंद्रियों की रचना करनेवाली क्रिया की पर्याप्ति जिस पुद्गल से होती है, उसे इंद्रिय पर्याप्ति कहते हैं। इसी प्रकार श्वासोच्छ्वास भाषा और मन के योग्य पुद्गलों का संग्रहण और व्युत्सर्ग की क्रिया की पर्याप्ति जिस-जिस पुद्गल-समूह से होती है, उसे श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति कहते हैं।

शरीरपर्याप्ति के द्वारा आहार के सार (रस) को सप्त धातुओं के रूप में परिणमित करता है। इंद्रिय पर्याप्ति के द्वारा प्राणी अपने-अपने विषय को ग्रहण करने का कार्य संपादित करता है। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति के द्वारा श्वासोच्छ्वास की क्रिया, भाषा से बोलने की क्रिया तथा मनःपर्याप्ति से मनन करने की क्रिया

इंद्रिय पर्याप्ति भी है और प्राण भी। बाह्य और आभ्यंतर प्रत्याकारों में होनेवाली पौद्गलिक शक्ति का नाम पर्याप्ति है। अंतःकरणों का काम करनेवाली आत्मशक्ति प्राण है। श्रोत्रेन्द्रियप्राण, चक्षुरेन्द्रियप्राण, नासिकेन्द्रियप्राण, श्लेष्मेन्द्रियप्राण और मनःप्राण पांच प्राणों का संबंध इंद्रियपर्याप्ति से है। मन, भाषा और श्वासोच्छ्वास पर्याप्तियां हैं। इसी तरह मन, वचन और काया प्राण हैं। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति भी है और प्राण भी। ये परस्पर संबद्ध हैं। आयुष्य-शक्ति का संबंध आहार पर्याप्ति से है।

पर्याप्तियां जड़ हैं और प्राण चेतन हैं। प्राण-शक्ति बिना आहार के काम नहीं कर सकती। हम आंखों से देखते हैं। पर केवल आंखों से नहीं देख सकते। देखने की शक्ति भीतरी नयनों में है। बाह्य आंखों के माध्यम से ही वह शक्ति काम करती है। बाह्य आवरण (मोतिया) आ जाए तो भीतरी शक्ति देखने में असमर्थ है। अतः मानना होगा कि आत्मिक शक्ति की तरह शारीरिक शक्ति भी आवश्यक है। इसी प्रकार अन्य प्राण-शक्तियां भी शारीरिक शक्ति की अपेक्षा रखती हैं।

शक्ति का सदुपयोग हो

बनें

के का दूसरा नाम वीर्य है। शरीर का वीर्य आत्मिक वीर्य से जिसका वीर्य सुरक्षित रहता है, उसकी आत्मशक्ति भी प्रबल वीर्य क्षीण होने से आत्मशक्ति भी क्षीण हो जाती है। इसीलिए कहा गया है कि साधक ऊर्ध्वरेता बने। ऊर्ध्वरेता का अर्थ को ऊर्ध्वगामी बनानेवाला। ऊर्ध्वगामी वीर्य दीप्ति, ज्योति और ता है, बल और उत्साह बढ़ाता है। अतः वीर्य की सुरक्षा है। योग-साधना से साधक ऊर्ध्वरेता बन सकता है।

की परिणति

शक्ति के अभाव में भोगी व्यक्ति अति वासना से पीड़ित होकर न जाते हैं। उनके वासना से पीड़ित होने के कारण बनते, अश्लील साहित्य, चलचित्र, बुरी संगत, अविवेक आदि। जाने के पश्चात वे अपने-आपमें एक खोखलेपन का अनुभव लेते हैं। उनके चेहरे की कांति खत्म हो जाती है। बीमारी बार-बार पर आक्रमण करने लगती है। बस, वृद्धावस्था और मौतहृये दो के साथ रहती हैं।

शक्ति की अपेक्षा

द्रेष्वनार्था बहुलीभवन्ति के अनुसार उनकी शारीरिक स्थिति होती है। अतः शरीर को बनाए रखने के लिए भी वीर्य की सुरक्षा आवश्यक है। यहां एक प्रश्न हो सकता है कि आत्म-साधक का मुक्ति होता है, फिर उसके लिए शारीरिक शक्ति की क्या है। यह सच है कि मुक्ति आत्मशक्ति से मिलती है, लेकिन इसके शारीरिक शक्ति आवश्यक है, क्योंकि मुक्ति उसी की होती है, ऋषभनाराच संहननवाला हो। जो व्यक्ति कठिन मुसीबतों को नहीं ता, वह आत्म-विकास के पथ पर भी पिछड़ जाता है।

प्रसंग से जरा हटकर मैं तो आपको यह भी बताना चाहता हूँ ऋष पाप करनेवाले और उत्कृष्ट धर्म करनेवाले एक समान शक्ति रखते हैं। जिस प्रकार वज्रऋषभनाराच संहनन मुक्ति में बनता है, उसी प्रकार नरक का निमित्त भी यही बनता है। नरक में जानेवाले व्यक्ति का संहनन वज्रऋषभनाराच ही होगा। उच्चकोटि का साधक बनना कठिन है, वैसे ही खूंखार डाकू को कठिन है, क्योंकि दोनों को अपने-अपने शरीर का मोह

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

छोड़कर चलना होता है। इन दोनों में अंतर इतना ही है कि शक्ति निर्माण में लगती है और दूसरे की ध्वंस में।

आत्मिक और शारीरिक शक्ति की परस्परता को देखते हुए है कि आत्मोपलब्धि के लिए शारीरिक शक्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती। चूंकि शरीर की शक्ति वीर्यसापेक्ष है, अतः उसकी सुरक्षा भी अत्यंत आवश्यक है।

वीर्याचार : अतिचार

शारीरिक शक्ति की सुरक्षा और आत्मशक्ति के साथ सामंजस्य करके उसे ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र में लगाना वीर्य का अतिचार है। एक व्यक्ति में ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति है, पर वह उस शक्ति का उपयोग में नहीं लेता। यह वीर्य का अतिचार है। जैसे अपनी शक्ति अहं करना अनुचित है, वैसे ही उसे छिपाना भी उचित नहीं है। अतः शक्ति का अतिचार वह है जो श्रद्धा और चारित्र में शक्ति का गोपन करता है, वह वीर्य का अतिचार है।

एक व्यक्ति तपस्या कर सकता है, सेवा कर सकता है और दूसरा काम करने की क्षमता रखता है, लेकिन समय आने पर काम न करे तो वह वीर्य का अतिचार करता है। अध्यात्म के क्षेत्र में शक्ति का गोपन करने की तरह ही यदि कोई व्यक्ति समाज और राष्ट्र के काम में मन चुराता है तो क्या एक नागरिक की भूमिका में उसकी शक्ति कुसुम की तरह निरर्थक नहीं है?

कई व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो शक्ति को काम में तो लेते हैं, पर उसका दुरुपयोग कर लेते हैं। शक्ति का अनुपयोग और दुरुपयोग ही अच्छी बातें नहीं हैं। वही व्यक्ति अपने जीवन में सफल होता है जो शक्ति का सदुपयोग करता है। सदुपयोग करने से शक्ति क्षीण नहीं होती, प्रत्युत बढ़ती है। देखने से आंखों की शक्ति, चबाने से दांतों की शक्ति और बोलने से गले की शक्ति तीव्र होती है। जिन उपकरणों का उपयोग नहीं लिया जाता, उनकी शक्ति खत्म हो जाती है। अतः शक्तियों का सदुपयोग होना चाहिए।

अपनी शक्ति स्वयं से छिपी नहीं रहती। अतः अपनी शक्ति का अनुमान करके उसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, उपासना और समाज में लगाना चाहिए।

सब्जीमंडी दिल्ली, १९ नवंबर १९६५

शक्ति का सदुपयोग हो

३२ : आगम-अनुसंधान : एक दृष्टि

आचारंग सूत्र जैन-आगमों में प्रथम अंग है। इसमें आचार का विवेचन है। यह बिखरे फूलों की तरह आचार से संबद्ध अनेक संकलनात्मक रूप है। थोड़े शब्दों में ज्यादा भाव को देनेवाला यह आगम गंभीर अध्ययन और अनुशीलन मांगता है। अभी इसका गहरा अध्ययन और अनुशीलन किया। फलतः कई गम्य हुए।

आचारंग सूत्र की पांच चूलिकाएं हैं। शास्त्रों में इन्हें आचार-कहा गया है। चार चूलिकाएं इसके द्वितीय श्रुतस्कन्ध में हैं और एक निशीथ को माना गया है। छेद सूत्रों में निशीथ को स्वतंत्र कहा गया है। पर मूलतः यह आचारंग का अभिन्न अंग है। इसमें स्वखलना होने पर साधक क्या प्रायश्चित्त करे, यह विवेचन कारण निशीथ को भी आचार-प्रकल्प कहा गया है।

कितने हैं?

जैन-आगमों की संख्या बत्तीस, पैंतालीस और चौरासी मानी गई है। यह अंग, बारह उपांग, चार मूल, चार छेद और एक अंग हय्ये बत्तीस आगम हैं। मूर्तिपूजकों के अनुसार आगम पैंतालीस माना जाचिन आचार्य चौरासी मानते थे। मेरी दृष्टि में बत्तीस, पैंतालीस आगमों की संख्याओं का अधिक महत्त्व नहीं है। मूलतः अंगों के जितने ग्रंथ हैं, वे सब आगम हैं।

का प्रामाण्य

आचारंग सूत्र में अंग-सूत्रों को गणिपिटक माना गया है। अपने घर के बहुमूल्य आभूषणों को विशेष मंजूषा में रखता है। ही द्वादशांगी आचार्यों की निधि है। इस द्वादशांगी की आराधना अनंत-अनंत जीव मुक्त हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे। द्वादशांगी आगमों के अनुसार तत्त्व-प्रतिपादन करनेवाले सभी आगमेतर तथ्य

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

मान्य हो सकते हैं, लेकिन द्वादशांगी से विपरीत तथ्य स्वीकार जा सकते।

संख्या-वैमत्य का कारण

आगमों की संख्या में वैमत्य का कारण तत्कालीन युग का रहा है। वह तनाव भी निष्कारण नहीं था, क्योंकि सूत्रों के विवादस्पद बन गए थे। बत्तीस आगमों में एक भी पंक्ति मिलती, जो द्वादशांगी से मेल न खाए, जबकि दूसरे-दूसरे सूत्र विपरीत भी चले गए हैं और उनके अंत में इस आशय की पंक्ति लिखी हुई मिलती हैं कि हमने सूत्र लिखा है, उसमें अशुद्धियाँ हैं तो दोष हमें मत देना, क्योंकि उपलब्ध प्रतियाँ बहुत खराब हैं। *महानिशीथ* के अंत में ऐसा-सा ही लिखा हुआ है। अतः प्रामाणिकता में संदेह हो जाता है।

अंग और प्रक्षिप्त अंश

अंगों में भी प्रक्षिप्त पंक्तियाँ नहीं हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। लेकिन बेमेल तथ्य नहीं होने के कारण उनकी प्रामाणिकता में शक नहीं है। लगता है, पूर्वधर जैसे विशिष्ट ज्ञानियों द्वारा कुछ तथ्य लिखे हुए हैं। आगम गणधर-रचित हैं, फिर भी उनमें विवेचन उनके अंगों में भी मिलता है। निहव बाद में हुए, लेकिन उनका वर्णन आगमों में भी है। निर्युक्ति और अन्य ग्रंथों के अनेक पद्य भी सूत्रों के अंग बन चुके हैं। हालांकि वे गलत तो नहीं हैं, तथापि प्रक्षिप्त हैं, यह तो मानना ही पड़ेगा।

टीकाकारों और चूर्णिकारों ने भी स्थान-स्थान पर प्रक्षेप किया है। पर उन्होंने किसी अन्यथा भावना से किया था, ऐसा हम नहीं मान सकते। लगता है, उनके सामने अनेक विवशताएं थीं। उसी का परिणाम हुआ है। उस समय की परिस्थितियों के बारे में टीकाकार अभयचंद्र लिखा है—'मूल सूत्रों की टीकाएं बनाने में बहुत कठिनाई है, क्योंकि पुरानी प्रतियाँ अशुद्ध हैं, पुरानी टीकाओं का लोप हो गया है, सूत्रों में मेल नहीं है और बुद्धि भी मंद हो गई है। अतः अनेक मुसीबतें टीकाओं का काम कर रहे हैं।'

प्रक्षेप का एक कारण यह भी है कि सैकड़ों वर्षों तक वे अक्षय मुखस्थ रहे। फिर स्मृति की मंदता को ध्यान में रखकर कंठस्थ प्रतियाँ आधार पर वे लिखे गए। इस स्थिति में उनमें जहां-तहां शब्द

आगम-अनुसंधान : एक दृष्टि

अन्तर आ गया है तो उसे अस्वाभाविक नहीं मानना चाहिए।

अनुसंधान की कार्य-शैली

अभी और मथुरा में हुई दो वाचनाओं को मिलाने पर लगभग रूपता मिली। कहीं-कहीं थोड़ा भेद रहा, उसे पाठांतर के रूप में। अब हमें विस्मृत भाग का अनुसंधान करना है। हमारे कार्य मूल आगम हैं। फिर टीका, निर्युक्ति, चूर्णि आदि व्याख्यात्मक का सहारा लेते हैं। उससे आगे स्वयं के दिमाग को भी काम में प्रतियों को हाथ में लेकर बैठते हैं। सात-आठ प्रतियां हमारे पास कहीं जितनी प्रतियां हैं, उतने ही पाठ मिलते हैं। तब लगता है मात्रा को इधर-उधर करने से कितना अनर्थ हो जाता है! कभी-प्रतियों को देखते समय हमें भी झुंझलाहट-सी होने लगती है। प्रतियां! एक प्रति ऐसी है, जिसके एक पन्ने में लगभग सौ हैं! ऐसी प्रतियों के आधार पर काम करने में बहुत कठिनाई

अपेक्षा से आज आगम-अनुसंधान कार्य में अतीत की तुलना हुई है। साहित्य की वृद्धि हुई है। अनेक जैन-ग्रंथ प्रकाशित त्रिपिटक, वेद और उपनिषद उपलब्ध हो रहे हैं। इन सबके जो अनुसंधान हो सकता है, वह हजारों वर्ष पहले असंभव था। पाठों में जो शब्द हैं, उनकी चर्चा जब टीका और चूर्णि में होती, तब हम बौद्ध-ग्रंथों को देखते हैं। उनमें वे शब्द प्रयुक्त हैं समकालीन अर्थ के आधार पर मूल पाठ का अर्थ करते हैं। कुछ हैं, जो महाभारत और भागवत में मिलते हैं। कुछ शब्द दिगंबर प्रयुक्त हैं। इन सबका उपयोग करने से काम करने में काफी सुविधा होती है।

हमारे आगम-संपादन की कार्य-शैली है। इस पद्धति से हम अपनी गति से कार्य कर रहे हैं। हालांकि अभी थोड़ा ही काम काफी शेष है, तथापि जितना हुआ है, वह संतोषजनक हुआ है, सन्नता है।

, दिल्ली

१९६५

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

५३ : प्रायश्चित्त के पांच प्रकार

स्थानांग सूत्र में प्रायश्चित्त के पांच प्रकार बताए गए हैं।
१. मासिक उद्घातिक २. मासिक अनुद्घातिक ३. चातुर्मासिक उद्घातिक ४. चातुर्मासिक अनुद्घातिक ५. आरोपणा।

जिस प्रायश्चित्त में घात-प्रत्याघात हो सके, यानी जो घात किया जा सके, वह मासिक उद्घातिक है। इसे लघु मासिक प्रायश्चित्त कहा जाता है। मुनि गोचरी में अशुद्ध आहार न ले, यह एक विधान है। अशुद्ध आहार लेता है, उसे यह प्रायश्चित्त दिया जाता है।

जिसे छोटा-बड़ा न किया जा सके, वह अनुद्घातिक प्रायश्चित्त है। इसी प्रकार चातुर्मासिक भी उद्घातिक-अनुद्घातिक प्रायश्चित्त से दो प्रकार का होता है।

एक गलती करने पर जो प्रायश्चित्त मिला, उसमें बहते-बहते गलती कर लेने से जो प्रायश्चित्त का आरोपण किया जाता है, उसे आरोपणा कहते हैं। जैसे प्रायश्चित्त की आलोचना करके ऋजुतापूर्वक न करे तो उसमें प्रायश्चित्त बढ़ा दिया जाता है। चातुर्मासिक प्रायश्चित्त छह मासिक बन सकता है।

मासिक प्रायश्चित्त, चातुर्मासिक प्रायश्चित्त विशेष संज्ञा से मासिक प्रायश्चित्त का अर्थ है। एक दिन रूक्ष भोजन करना। यही जघन्य स्थिति है। उत्कृष्टतः एक मास तक तपस्या करने का प्रायश्चित्त मासिक प्रायश्चित्त है। गुरु, लघु, मध्य, भिन्नमास आदि भेदों से अनेक प्रकार का है।

चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का जघन्य रूप एक आर्यांबिल उपवास है। उत्कृष्ट रूप में एक सौ बीस दिन तक उपवास का प्रायश्चित्त चातुर्मासिक प्रायश्चित्त है।

प्रायश्चित्त के पांच प्रकार

प्रायश्चित्त के पांच प्रकार

आरोपणा प्रायश्चित्त के पांच प्रकार हैं १. प्रस्थापिता २. स्थापिता
३. अस्थापिता ४. अकृत्स्ना ५. हाडहडा।

प्रायश्चित्त रूप में प्राप्त एकाधिक तपों में से किसी एक तप का
रखना प्रस्थापिता आरोपणा प्रायश्चित्त है।

प्रायश्चित्त रूप में आए तप को स्थापित रखना, सेवा आदि किसी
कार्य के सामने आ जाने से उसे प्रारंभ न कर पाना स्थापिता
प्रायश्चित्त है।

मान में हमारे यहां छह मास का तप उत्कृष्ट तप है। जिसे
स्वरूप छह मास से अधिक अवधि का तप प्राप्त नहीं हुआ है,
वह आरोपणा को इस अवधि में परिपूर्ण करता है। वह कृत्स्ना
प्रायश्चित्त है।

यदि छह मास से अधिक तप प्रायश्चित्तस्वरूप प्राप्त हो, वह
आरोपणा को छह मास की अवधि में पूर्ण नहीं कर पाता।
इसे उसी अवधि में समाहित करना होता है। (प्रायश्चित्त रूप में
से अधिक तप नहीं किया जाता।) अपूर्ण होने के कारण वह
अकृत्स्ना आरोपणा प्रायश्चित्त कहा जाता है।

प्रायश्चित्त रूप में जो तप प्राप्त हो, उसे हठात (शीघ्र) दे देना
आरोपणा है। इसमें जरा भी कालक्षेप नहीं हो सकता।

साधक कोई ऐसा कार्य न करे, जिससे उसे प्रायश्चित्त स्वीकार
पड़े। पर जब तक छद्मस्थता मौजूद रहती है, उससे जब-तब
घटित हो जाती है। स्वलना होने के बाद साधक उसे छुपाए नहीं,
जुतापूर्वक प्रायश्चित्त कर ले। इससे दोष का शोधन हो जाता है।

दिल्ली

सं. १९६५

जागो ! निद्रा त्यागो !!

५४ : शिकायत बनाम आत्म-निरीक्षण

आत्म-निरीक्षण ही समाधान है

आज व्यापारी-गोष्ठी का विशेष आयोजन किया गया है। व ने इसमें अत्यंत उत्साह से भाग लिया है, यह प्रसन्नता की बात नहीं कि व्यापारी-गोष्ठी यहां पहली ही बार हो रही है। इससे अनेक बार ऐसी गोष्ठियां हो चुकी हैं। उन गोष्ठियों में व्यापार कठिनाइयां सामने आईं। हमने चिंतन-परामर्श करके सरकारी अ तक यह चर्चा पहुंचाई। हमें लगा कि गलती दोनों ओर से हो र तो सब व्यापारी अच्छे हैं और न सब अधिकारी। दोनों ही वर्ग अच्छा साबित करने की कोशिश में हैं। इससे स्थिति सुलझे अपितु और अधिक उलझेगी ही। समस्याओं को सुलझाने का उपाय है और वह है आत्म-निरीक्षण। अपेक्षा है, दोनों वर्ग अपना आत्म-निरीक्षण करें।

व्यापारियों में वह साहस नहीं है, जिससे वे दोषी को स संके। ठीक लगभग ऐसी ही स्थिति अधिकारियों की है। भाई-भ का असर लगभग सब पर है। यही वजह है कि शिकायतों की रही है, पर आत्म-निरीक्षण के लिए किसी को अवकाश नहीं

मुसीबतें कसौटी हैं

यह सच है कि अच्छी नीयत से काम करनेवालों पर आती हैं। पर मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि मुसीबतें कब, नहीं आईं? जो व्यक्ति सत्य का पक्षपाती होता है और सत्पथ प रहने का संकल्प लेकर चलता है, उसे मुसीबतों से मुकाबला पड़ता है। मुसीबतें व्यक्ति के लिए कसौटी हैं। इस कसौटी उतरनेवाला ही सफल हो सकता है।

सीता जीवन भर सत्य के आधार पर चली। सत्य प

***व्यापारी-गोष्ठी में प्रदत्त प्रवचन।**

शिकायत बनाम आत्म निरीक्षण

स्थिति थी। बावजूद इसके, अग्नि-स्नान उसी को करना पड़ा, अग्नि-स्नान उसके सतीत्व की कसौटी था। एक असत्य का इस मुकाबले में खड़ा नहीं रह सकता। अतः दृढ़ता से संकल्प लेनेवालों को कठिनाइयों के साथ जूझना होता है, यह एक तथ्य

और आस्था

अपने हर कार्य में नैतिक रहे, यह नितांत अपेक्षित है। कुछ लोग जीवन तो जीना चाहते हैं, पर इसके लिए दूसरों का सहयोग खोजते हैं। मेरी दृष्टि में यह परमुखापेक्षता अच्छा तत्त्व इससे संकल्प में शैथिल्य उग आता है। वस्तुतः दूसरे के पर रहनेवाला अधूरा नैतिक है। आपको ख्याल रहना कि व्रत-स्वीकरण के साथ यह शर्त नहीं होती कि सहारा/सुविधा मिली तो नैतिक रहूंगा, अन्यथा नहीं। 'सहारा/सुविधा मिले या न मिले, मैं अपने स्वीकृत व्रतों को 'हइस संकल्प के साथ वह नैतिक बने, अणुव्रती बने। 'मैंने व्रत कांटों का मार्ग स्वीकार किया है। इस पर चलकर ही साध्य कर सकूंगा।'हइस आस्था के साथ वह आगे बढ़े।

खते नहीं

य का अनुसरण करनेवाला सदा मुसीबतों के साथ ही खेलता रहता है। आगे जाकर उसकी मुसीबतें खत्म भी हो सकती हैं। अणुव्रती व्यापारियों का ऐसा अनुभव है कि अणुव्रत पर चलने वाली सरकार को उनका विश्वास हो गया है। पहलेवाले ऑफिसर ही बचने के लिए आते हैं, पर देखते नहीं, क्योंकि उन्हें विश्वास हो चुका है कि वे सच्चे हैं। इससे उनकी बहुत-सी मुसीबतें सहज समाप्त हो

अपेक्षित है

व्यापारियों के प्रति जनता और सरकार में जो अविश्वास का माहौल बना हुआ है, उसे मिटाने के लिए व्यापारी-वर्ग को सहज अनुसरण करना होगा। साथ ही सरकार को भी अपना रवैया बदलना होगा। धारणा और पूर्वाग्रह से व्यापारियों को चोर तथा छली माननेवाली सरकार का विकास नहीं हो सकता, क्योंकि विश्वास

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

के अभाव में परस्पर तनाव पैदा हो जाता है। यह तनाव वि
बहुत बड़ी बाधा है।

आज व्यापारी-वर्ग में सबसे बड़ी बुराई पनपी हैह्रखाद्य
मिलावट करने की। प्राचीनकाल में ऐसी मिलावट के प्रसंग सुनने
आते। किंतु आज बिना रोक-टोक ऐसा हो रहा हैह्रयह बहुत
अलबत्ता मैं मानता हूं कि सभी व्यापारी इस बुराई में फंसे हुए
पर एक व्यापारी भी यदि ऐसा काम करता है तो पूरे व्यापारी
विश्वास खत्म हो जाता है। इसी प्रकार दो-चार व्यापारी भी
चलते हैं तो उसका विश्वास जमता है। व्यापारी लोग इस संक
आस्था के साथ चलें कि धरती और आकाश कदाच अपनी मर
सकते हैं, लेकिन हम अपने व्रतों से चलित नहीं हो सकते। मैं
कि इस शैली से काम होगा तो वह दिन भी दूर नहीं है, प
प्रकाश में आ जाएगा।

अणुव्रती की अर्हता

अणुव्रती किसी सहयोग या आधार पर नहीं चलता
आधार होती है नैतिक आस्था। व्यक्ति में नैतिकता के प्रति गह
है तो वह हर स्थिति का मुकाबला करके नैतिक बना रहेगा। प
ख्याति, यश एवं अर्थ के प्रलोभन से अणुव्रती बनेगा, वह
सकेगा। अणुव्रत-आंदोलन यहां आकर सबसे कठिन बन
अन्यान्य आंदोलनों में कहीं भूमि देनी पड़ती है, कहीं अर्थ लगा
है और कहीं श्रम-दान करना पड़ता है, लेकिन इसमें तो ज
बुराइयों का विसर्जन करना होता है।

मैं देखता हूं कि व्यक्ति अपनी सामान्य-सी बुरी लत भी
बहुत कठिनाई महसूस करता है। ऐसी स्थिति में जीवन की
बुराइयों को छोड़ना कितना कठिन है, इसका अनुमान किया ज
है। अनेक व्यक्ति ऐसे मिलेंगे, जो हजारों रुपये दे सकते हैं, प
बुरी आदतें नहीं छोड़ सकते।

यह बहुत स्पष्ट है कि व्यक्ति को सुधारने का कार्य न
कर सकता है और न सामाजिक प्रतिबंध ही। व्यक्ति स्वयं ही
अपना सुधार कर सकता है। इस कार्य में अणुव्रत-जैसे कार्यक्र
लिए प्रेरक बन सकते हैं, उसका पथ-दर्शन कर सकते हैं। अ

शिकायत बनाम आत्म-निरीक्षण

प्रेरित होकर हजारों-हजारों लोगों ने अपने जीवन को बुराइयों
काड़ियों की ओर मोड़ा है, अपने नारकीय जीवन से निकलकर
मुख और शांति की सांस ली है।

है व्यवस्था में बदलाव

अणुव्रत आंदोलन व्यक्ति-व्यक्ति के सुधार के द्वारा समाज-सुधार
कर रहा है। पर समाज-सुधार का यह कार्य तब तक सरल नहीं
तब तक व्यक्ति-सुधार के साथ-साथ व्यवस्था-परिवर्तन की बात
सुननी नहीं जुड़ेगी। मैं कई बार अनुभव करता हूँ कि व्यक्ति नैतिक
व्यवहार में गणितात्मक रहना चाहता है, पर व्यवस्था गलत होने के कारण उसे
सही स्थिति में अनैतिकता और अप्रामाणिकता का सहारा लेना
पड़ता है। इसलिए सामाजिक व्यवस्थाओं, विधि-विधानों, मूल्य-मानकों
में कानूनों में परिवर्तन अपेक्षित है।

है मनोबल

अणुव्रत प्रसन्नता है कि व्यापारियों ने नैतिक रहने का जो संकल्प
ले लिया है, उसके बारे में कोई शिकायत नहीं है। इससे लगता है कि
अणुव्रतियों का दृढ़ता से मुकाबला किया है। वे अपने लक्ष्य में
बढ़ रहे हैं। लेकिन उनकी यात्रा बहुत लंबी है। इसलिए मनोबल की
सहायता चाहिए। मनोबल के सहारे वे ऐसे वातावरण का निर्माण करके आगे
बढ़ सकें, तब तक उनकी नैतिक शक्ति बढ़ती रहे।

संकट और संयम

अणुव्रत संकट के समय अणुव्रत-आंदोलन का खाद्य संयम का
कार्यक्रम सामने आनेवाला है। अधिक अन्न उत्पादन भी इस
संकट का एक हल है। पर अणुव्रत-आंदोलन आपको संयम की बात
सुनाएगा। संयम आत्म-शुद्धि का तो साधन है ही, इस राष्ट्रीय संकट
के बहुत कारगर समाधान है। अतः असंयम को मिटाने का दृढ़
संकल्प लेकर अणुव्रत नया आदर्श दिखाएँ। अंत में प्रारंभवाली बात को
सुनना चाहता हूँ कि सरकारी अधिकारी-वर्ग तथा व्यापारी-वर्ग दोनों
की निरीक्षण करें। इससे ही उभयपक्षीय समस्याएं समाधान के बिंदु
पर पाएंगी।

जय, दिल्ली

दिसंबर १९६५

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

५५ : कायोत्सर्ग : तनाव-विसर्जन की

निद्रा और जागरणहृये दो अवस्थाएं हैं। निद्रा एक प्र मूच्छना है। दर्शनावरणीय कर्म के उदय से निद्रा आती है। निद्रा पांचों इंद्रियां व्यक्त रूप में काम नहीं करतीं। निद्रा शरीर का जैसे भूख लगने पर भोजन और प्यास लगने पर पानी आव वैसे ही ऊंघ आने पर निद्रा लेना भी आवश्यक है।

भोजन, पानी और निद्रा तीनों ही शरीर के पोषक तत्व भर श्रम करने के बाद रात्रि में नींद लेने से थकावट खत्म हो योगी लोग योगनिद्रा की बात कहते हैं। इसमें में गहरी नींद न ऊपर से सुषुप्ति और भीतरी जाग्रति का नाम योगनिद्रा है।

कायोत्सर्ग : विधि और उपयोगिता

जैन-सूत्रों में एक शब्द आता हैहकाउस्सग्ग। उसका रूप बनता हैहकायोत्सर्ग। आज की भाषा में उसे शवासन हैं। कायोत्सर्ग लेटकर, बैठकर या खड़े होकर किसी भी स्थिति जा सकता है। कायोत्सर्ग करने का पाठ हैहठाणेणं मोणेणं अप्पाणं वोसिरामि। यानी मन, वचन और काया की चंच निरोध करके कुछ समय के लिए शरीर का व्युत्सर्ग करने से होता है।

हम इस बात को समझें कि शरीर और आत्मा का कर्मज है। लेकिन कल्पना के द्वारा उस संबंध में भिन्नता करने से व्युत्सर्ग हो सकता है। मनःकल्पना से शरीर और आत्मा की पृथक सत्ता का चिंतन हो सकता है। आपने देखा होगा कि व्यक्ति दूर से किसी चीज को देखकर भयभीत हो जाता है। हा चीज अपनी ओर से भय का वातावरण नहीं बनाती, फिर भ मानसिक कल्पना से भयाक्रांत होकर व्यक्ति दौड़ने लगता है।

बाहरी भय को कल्पना से भीतर लाया जा सकता है

कायोत्सर्ग : तनाव-विसर्जन की प्रक्रिया

य को बाहर क्यों नहीं किया जा सकता? बेशक किया जा सकता है। हालांकि वैयक्तिक दुर्बलता के कारण हर व्यक्ति ऐसा कर सके, आवश्यक नहीं है, क्योंकि संभव स्थिति में भी सबकी शक्ति को प्रकट करने से स्फुरित नहीं हो पाती।

ध्यान

ध्यान-विज्ञान एक ऐसा तत्त्व है, जिससे दूसरी वस्तु से स्वयं को अलग करने में सक्षम किया जा सकता है। शरीर और आत्मा की भिन्नता भी ध्यान की साधना से हो सकती है। इसके बाद शरीर की कोई भी प्रतिक्रिया से आत्मा प्रभावित नहीं हो सकती।

सुकुमाल मुनि श्मशान में ध्यानस्थ खड़े थे। सोमिल ब्राह्मण ने ध्यानस्थ मुनि के चरणों पर मिट्टी की पाली में धगधगते अंगारे रख दिए। इस पर भी मुनि ज्यों-के-त्यों खड़े रहे, अपनी समता की साधना में लगे बने रहे।

एक स्कंधक ध्यान में खड़े थे। किसी ने छुरी से उनके समूचे शरीर को काट लिया। इसके बावजूद वे पूर्ववत् ध्यान में लीन बने रहे।

एक मेलार्य भिक्षा के लिए गए। गृहस्वामी के मन में उनके प्रति अविश्वास का संदेह हो गया। उसने गीला चमड़ा मुनि के सिर पर बांध दिया। ज्यों-ज्यों चमड़ा सूखा, त्यों-त्यों मुनि के शरीर में असहनीय दर्द हुआ, पर उन्होंने समभाव से सहन किया।

एक स्कंधक को पालक ने तिलों की तरह घाणी में पील दिया। इसके बाद समभाव में लीन रहे। उनके मुंह से उफ तक नहीं निकली।

एक वान महावीर का साधनाकालीन विवेचन हम सुनते ही हैं। वे ध्यानस्थ खड़े रहते। वहां अनेक दंस उन्हें काटते, उनका रक्त बहता, वे खरोंच खाते। इसके बावजूद वे पूर्ववत् ध्यान में लीन रहते।

एक बाहुबलि ध्यानस्थ खड़े थे। महीनों तक वे खड़े रहे। उनके शरीर पर पक्षियों ने नीड़ बना लिए। हाथी अपनी खुजली मिटाने के लिए उनके शरीर से घर्षण करते। ऐसे में भी उनकी ध्यान-स्थिति में कोई कमी नहीं आया।

एक जो बातें सुनकर एक बार सहसा विश्वास नहीं होता। बुद्धि इस बात को स्वीकार नहीं करती कि कोई इतने कष्ट समभाव से सह सकता है। लेकिन के इस संदर्भ में कोई यह कह सकता है प्रगाढ़ इष्ट-आस्था से

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

ऐसा संभव हो जाता है, तथापि इतना कहकर हम भेद-विज्ञान साधना की बात को टाल नहीं सकते।

श्रद्धालु इन तथ्यों को मान सकते हैं, पर यहां तार्किकों की नहीं जम सकती। मैं सोचता हूँ कि हर बात केवल श्रद्धा या वेद के आधार पर नहीं जानी जा सकती। श्रद्धा और तर्क में सामंजस्य जाए तो हर तथ्य सही सिद्ध हो सकता है।

सिर पर अंगारे रखना, शरीर को छीलना, गीला चमड़ा बांधना आदि स्थितियों को सहना भेद-विज्ञान का परिणाम है। हमें है कि आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा चेतन है और शरीर जड़ है। दोनों का संबंध होने से ये एकमेक हो गए, इसलिए अलगाव नहीं दिखता। किंतु तत्त्वतः ये भिन्न-भिन्न हैं।

मुनि साधना के द्वारा जब भेद-विज्ञान के तत्त्व को आत्म लेता है, तब वह अनुभव करता है **देहनाहं देहश्चिदात्मेतिहमै** हूँ, शरीर मैं नहीं हूँ। बुद्धि से शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न लेने पर किसी प्रकार के कष्ट की अनुभूति नहीं होती।

ऑपरेशन के समय सूंघनी सुंघा देने पर व्यक्ति को अनुभव होता कि डॉक्टर क्या कर रहे हैं। यह कृत्रिम मूर्च्छना है। इस सम्मोहन शक्ति से भी बड़े-बड़े ऑपरेशन किए जाते हैं। कृत्रिम जब ऐसा हो सकता है तो आत्मा और शरीर के विसंबंधन की बात में ऐसा क्यों नहीं हो सकता? निश्चित ही होना चाहिए। कायों द्वारा चेतना और शरीर की भिन्नता महसूस होने लगती है। शारीरिक क्रिया से आत्मा प्रभावित नहीं होती।

जैन-सूत्रों में कायोत्सर्ग का सांगोपांग विवेचन है। उसका गंभीरता से अनुशीलन किया जाए। कायोत्सर्ग का आत्म लाभ तो है ही, आज के वैज्ञानिक युग में उसका शारीरिक मानसिक मूल्य भी प्रमाणित हो चुका है। शारीरिक और मानसिक को विसर्जित करने का यह अमोघ साधन है। इसलिए प्रत्येक भक्त को इसका अभ्यास करना चाहिए।

सब्जीमंडी, दिल्ली

२४ नवंबर १९६५

कायोत्सर्ग : तनाव-विसर्जन की प्रक्रिया

५६ : ब्रह्मचर्य की महत्ता

और व्यवहार

के दो प्रकार हैं निश्चय और व्यवहार। दोनों ही नय अपने-
मान पर महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि परमार्थतः निश्चय ही तात्त्विक है,
व्यवहार-विरुद्ध चलने की आज्ञा तीर्थकर नहीं देते। इससे लगता है
एक भी निश्चय की तरह ही ग्राह्य है।

का मूल्य

कड़ों साधु-साध्वियां प्यास से व्याकुल हैं। उनके प्राण निकल रहे
पास कहीं पानी नहीं है। थोड़ी दूर पर तालाब है। वह पानी से
केवलजानी साथ में हैं। वे जानते हैं कि तालाब का पानी
है। इसके बावजूद वे साधु-साध्वियों को पानी पीने की आज्ञा
इसका कारण? कारण यही है कि तालाब का पानी पीना
विरुद्ध है। यह व्यवहार के मूल्य का उदाहरण है।

रे सामने भी एक ऐसा ही प्रश्न आता है। वह प्रश्न है नल के
बारे में। लोग कहते हैं कि नल का पानी फिल्टर होकर आता
वह सचित कैसे रह सकता है। आप उसे लेने की अनुमति क्यों
इस संदर्भ में उनका तर्क यह है कि जब चूने में ही इतना क्षार
के उसे थोड़ा-सा ही डालने से एक घड़ा पानी अचित्त हो जाता
कुछ अधिक डाल दिया जाए तो जिह्वा फट जाती है, फिर नल
में तो अनेक औषधियों का प्रयोग होता है। यह ठीक है कि उस
सचित रहने की संभावना नहीं लगती है। पर व्यवहार को
तो जरूरी है। नल का पानी साधु-साध्वियों द्वारा ग्रहण किया
व्यवहार-विरुद्ध लगता है, इसलिए उसकी आज्ञा नहीं दी जाती।

: परमार्थ

भी-कभी व्यवहार को इतना महत्त्व दे दिया जाता है कि वही
न जाता है। पांच महाव्रतों में ब्रह्मचर्य पर अधिक बल देने का

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

कारण भी यही है। अन्यान्य महाव्रतों का भंग होने से भी उ
पतन होता है, लेकिन अब्रह्मचर्य से आत्म-पतन के साथ-साथ
का भी लोप होता है। इससे धर्म-शासन की अवहेलना और अ
है। अतः ब्रह्मचर्य पर बहुत बल दिया गया है।

ब्रह्मचर्य की नव बाड़

तत्त्वतः जैसे हिंसा बुरी है, असत्य बुरा है, वैसे ही अब्रह्म
है। बावजूद इसके, ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए नव बाड़ों और
की परिकल्पना की गई है। विजन-स्थान, कामकथा-वर्जन,
लिंगी के साथ एक आसन पर बैठने का वर्जन, दृष्टि-संयम, श्रु
भुक्तभोग-स्मृति-संयम, सरस भोजन का वर्जन, अति भोजन
और शृंगार-परिहारह्वये नव बाड़े हैं। शब्द, रूप, गंध, र
स्पर्शह्वपांच इंद्रियों के इन पांच विषयों में अनासक्त रहना को
सब व्यवहार है।

यहां आपके मन में एक जिज्ञासा हो सकती है कि जि
इतना कमजोर है कि स्पर्श मात्र से पतित हो जाते हैं, वे ब्रह्म
पालन कैसे कर सकेंगे।

यहां यह विमर्शनीय है कि नियम किसी एक के लिए न
संघ में ऐसे साधु-साध्वियां भी होते हैं, जो रात-भर साथ रं
उनका मन दोलायमान नहीं होता। किंतु सब व्यक्ति समान न
इसलिए अनेक विधानों का पालन सभी को करना आवश्यक हो ज

ब्रह्मचर्य का मूल्य

ब्रह्मचर्य एक महान तत्त्व है। उसकी सुरक्षा आत्मा की र
स्वास्थ्य की सुरक्षा है। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा से ओज, तेज त
सुरक्षित रहती है। यद्यपि हर व्यक्ति ओजस्वी बनना चाहता है
कोई काम तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि उसके अनुर
न की जाए।

ब्रह्मचर्य की आराधना बहुत कठिन काम है। पहुंचे हुए व
कर्मोदयवश पतित हो सकते हैं। मनुष्य के सामने हजारों प्रलो
हैं। फलतः वह मिनटों में फिसल जाता है। नरक का भय
फिसलन से नहीं रोक पाता। प्राप्त भोगों से मुंह मोड़ना किर्स
का ही काम है।

ब्रह्मचर्य की महत्ता

कर्कों ने इस संदर्भ में कहा है कि जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य की पूर्ण कर लेता है, वह संसार-समुद्र को करीब-करीब तर लेता है। नदी को तैरना उसके लिए अवशेष रहता है। लेकिन शेष व्रतों करने पर भी जो ब्रह्मचर्य की साधना नहीं कर पाता तो चाहिए कि उसने मात्र नदी को पार किया है, विशाल समुद्र को अभी उसके लिए बाकी है। इससे हम जान सकते हैं कि की साधना कितनी कठिन है !

चर्य की शक्ति अवाच्य और अनभिलाप्य है। ब्रह्मचारी की बद्ध हो जाती है। सहसा उसके मुंह से जो शब्द निकलते हैं, वे जाते हैं। उसकी मानसिक शक्ति तीव्र होती है। ब्रह्मचारी जिस चिंतन करता है, वह काम अनायास होकर रहता है।

चारी देव, मनुष्य और असुरों के लिए पूज्य होता है। वह मान अग्नि में प्रवेश करके भी जलता नहीं; बाढ़ में बहता नहीं। ट जाए तो नदी और समुद्र में डूबता नहीं। उसके सहयोग से क्ते भी नदी को तैर जाते हैं। तपा हुआ शीशा पिलाने पर भी त्यु नहीं होती। धगधगते अंगारे मुंह में रखने पर भी उसका मुंह नहीं। वस्तुतः ब्रह्मचर्य द्वारा उसकी आत्मशक्ति का अतिशय हो जाता है।

ंजलयोगदर्शन में लिखा है**ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः**ह से अनंत वीर्य का विकास होता है। जैन-दर्शन के अनुसार यानी कर्मों के हलकेपन और संकल्प की दृढ़ता से ब्रह्म-शक्ति ती है। अपेक्षा यह है कि व्यक्ति ब्रह्म-शक्ति का सही-सही करे और उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहे। यह प्राप्ति वन के लिए बहुत बड़ा वरदान सिद्ध होती है।

ठ लोग ब्रह्म-शक्ति का मूल्य तो स्वीकार करते हैं, पर ऐसी करते हैं कि यदि सब ब्रह्मचारी बन जाएंगे तो सृष्टि कैसे मेरी दृष्टि में यह आशंका व्यर्थ है, क्योंकि ऐसी स्थिति कभी णें है।

स्थानांग का

वहार में ब्रह्मचारी के लिए स्त्रीस्पर्श का वर्जन किया गया है। स्थिति में इस नियम में अपवाद भी रखा गया है। शास्त्रों में

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

बताया गया है कि कोई मुनि यदि विशेष स्थिति में साध्वी को पकड़ ले या हस्तावलंबन देकर रख ले तो भी वह भगवान की उपासना में आराधक है। स्थानांग में ऐसी पांच स्थितियों का उल्लेख प्राप्त है।

१. कोई पशु या पक्षी साध्वी पर आक्रमण करे तो उसे पकड़ ले, सहारा देता हुआ मुनि आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता।
२. दुर्गम तथा ऊबड़-खाबड़ स्थानों में, जहां उतरना-चढ़ना मुश्किल होता है, फिसलती हुई, गिरती हुई साध्वी को पकड़ ले, सहारा देता हुआ साधु आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता।
३. दल-दल, कीचड़, काई या पानी में फंसी हुई या बहती हुई साध्वी को पकड़ता हुआ, सहारा देता हुआ साधु आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता।
४. साध्वी को नाव में चढ़ाता हुआ या उतारता हुआ मुनि आज्ञा का अतिक्रमण नहीं होता।
५. क्षिप्तचित्त, दृप्तचित्त, यक्षाविष्ट, उन्मादप्राप्त, उपद्रव, कलहरत, प्रायश्चित्त से डरी हुई, अनशन स्वीकार करने वाली, किन्हीं व्यक्तियों द्वारा संयम से विचलित की जाती हुई साध्वी को पकड़ता हुआ, सहारा देता हुआ साधु आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता।

ऊपर बताए गए कारणों के अतिरिक्त भी कोई आकस्मिक कारण विशेष कारण समुपस्थित होने पर यही विधि समझनी चाहिए।

सामान्यतः साधु के लिए स्त्री का स्पर्श करना मात्र-पाप नहीं है। अपवादकाल में माता और बहिन समझकर साधु उसे पकड़ सकता है। यह शास्त्रीय विधान है।

आगामिक प्रसंगों में साधु साध्वी को पकड़ ले, यह उपासना पर साध्वी साधु को पकड़कर रखे, यह बात कहीं नहीं आई है। स्त्रीजाति की नैसर्गिक दुर्बलता के कारण उससे ऐसी आशा नहीं हो कि वह किसी साधु की रक्षा कर सके। लेकिन कोसल इतनी दृढ़ हो तो वह ऐसा कर सकती है, क्योंकि विधान दोनों के समान ही है।

आज स्त्री और पुरुष के समानाधिकार की चर्चा चलती है। नैसर्गिक दुर्बलता को मिटाना हाथ की बात नहीं है। स्त्री और पुरुष शारीरिक स्थितियों में ही अंतर नहीं होता, दोनों के चिंतन और

ब्रह्मचर्य की महत्ता

तर रहता है। स्त्री के साथ बलात्कार भी हो सकता है। इन सब परिप्रेक्ष्य में सत्यद्रष्टा तीर्थंकरों ने देखा की स्त्री की सुरक्षा अतः देश-काल के अनुरूप उसकी सुरक्षात्मक व्यवस्था होनी

, दिल्ली

र १९६५

जागो ! निद्रा त्यागो !!

५७ : संघ में आचार्य का स्थान

संघ और संघनायक का आपस में बहुत घनिष्ठ संबंध है। प्रतिपालना के लिए आचार्य और उपाध्याय सजग प्रहरी सावधान रहते हैं। आचार्य गण के सर्वोच्च अधिकारी होते उपाध्याय आचार्य के विशेष कार्य-प्रतिनिधि।

धर्मसंघ को एक राष्ट्र से उपमित किया जाता है। जैसे सुरक्षा और प्रतिपालना होती है, वैसे ही धर्मसंघ भी सुरक्षित प्रतिपालनीय है। धर्मसंघ में भी संघ के सदस्यों की शिक्षा, आदि की समुचित व्यवस्था का ध्यान रखा जाना अपेक्षित है। संघ का सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता। राष्ट्र के प्रशासन गृह, शिक्षा, सेवा आदि विभिन्न विभागों के मंत्री होते हैं, वैसे ही प्रवर्तन, शिक्षा, सेवा आदि के विभागाध्यक्षों की परिकल्पना है।

आचार्य गण के नेता होते हैं और उपाध्याय शिक्षा-विभाग के सर्वोच्च अधिकारी या अध्यक्ष। आचार्य और उपाध्याय दोनों शास्त्रों के साथ-साथ आते हैं। ऐसा भी कहा गया है **आचार्यश्चासौ उपाध्यायः**। अर्थ और सूत्र दोनों की वाचना देने के कारण आचार्य उपाध्याय-विभाग के अध्यक्ष बन जाते हैं।

भिक्षु स्वामी से किसी ने पूछा है 'आपके संघ में उपाध्याय आचार्य भिक्षु ने कहा है 'उपाध्याय के सारे काम मैं ही देखता हूँ। समय में भी हमारे धर्मसंघ में गणी, गणावच्छेदक, प्रवर्तक, स्थविर और उपाध्याय के सारे कार्य आचार्य के ही जिम्मे हैं।

शास्त्रों में स्थान-स्थान पर आचार्य की महत्ता बताई गई है। संघ में आचार्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रखा गया है। इसलिए हर सदस्य आचार्य के प्रति विनम्र रहे, यह अपेक्षित है। दशम सूत्र में कहा गया है

संघ में आचार्य का स्थान

नीयं सेज्जं गइं ठाणं, नीयं च आसणाणि य।
नीयं च पाए वन्देज्जा, नीयं कुज्जा यअञ्जलिं॥

शिष्य अपना बिछौना आचार्य के बिछौने से नीचे स्थान पर करे, आचार्य के पीछे चले, आचार्य से नीचा खड़ा रहे, अपना आसन नीचे स्थान पर रखे और नीचे झुककर उन्हें नमस्कार करे।

णे और कहा गया है

संघट्टिता काएणं, तहा उवहिणामवि।
खमेह अवराहं मे, वएज्ज न पुणो ति य॥

शिष्य जिस समय आचार्य के साथ-साथ चले या उनके समीप से होकर गुजरे, उस समय यदि अविधि से उनके शरीर का या उनके उपकरणों का स्पर्श हो जाए तो वह तत्काल वंदना कर कहेहं 'गुरुदेव! मेरा अपराध क्षमा करें, भविष्य में मैं आपकी आशातना नहीं करूंगा।'

व्यावहारिक विनम्रता का प्रतीक है। श्रावक भी इससे शिक्षा ले। यदि आचार्य के निकट से गुजरते हैं तो उन्हें झुककर वंदन करना और चरणस्पर्श करना ही विनय नहीं है। विनय की अपनी एक पद्धति है। विवेक से उस पद्धति को काम में लिया जाए। बिना विनय भी रूढ़ बन जाता है। भगदड़ असभ्यता को प्रकट करती है। औचित्य का लंघन हो जाता है।

यदि आचार्य किसी कारणवश कदाच अप्रसन्न हो जाएं तो शिष्य को भी लापरवाही किए बिना अपने विशेष विनय से उन्हें प्रसन्न कर लें। उत्तराध्ययन में कहा गया है

आयरियं कुवियं नच्चा, पत्तिएण पसायए।
वेज्जवेज्ज पंजलिउडो, वएज्ज न पुणो ति य॥

शिष्य का संबंध पिता-पुत्र का संबंध है। आपस में वैमनस्य का संबंध नाम मात्र का होता है। जहां अनुशासन और विनय का संबंध, वहां संबंध केवल काल्पनिक है। शास्त्रों में तो यहां तक कहा है 'आयरियपाया पुण अप्पसन्ना, अबोहि आसायण नत्थि'। आचार्य की अप्रसन्नता मौत से भी अधिक भयंकर है। यदि वे अप्रसन्न हो जाएं तो बोधि-लाभ नहीं होता। और इससे भी आगे मोक्ष नहीं मिल सकता।

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

मोक्ष की चाबी आचार्य के हाथ में होती है। जड़ों में जल ही फलों तक पानी पहुंच सकता है। यदि फल जड़ों के आधार जीना चाहें, सीधा पानी में रहना चाहें तो पोषण तो दूर की बात सड़ान पैदा हो जाएगी। शिष्य भी यदि यह सोचने लगे कि मुझे क्या आवश्यकता है, तो वह भूल करता है, क्योंकि स्वयंबुद्ध होता है। सामान्यतः आचार्य के आधार के बिना किसी का चल कठिन है।

हजारों पुस्तकें मुद्रित हैं, फिर छात्र स्कूलों और कॉलेजों पढ़ते हैं? कारण स्पष्ट है। गुरु के द्वारा जो ज्ञान मिलता है, वह के द्वारा सहजतया नहीं मिल सकता। पुस्तकें निमित्त बन सकते ज्ञान के मुख्य आधार गुरु ही हैं।

प्रसंग कालिदास का

यों हर बात का अपवाद भी हो सकता है। गुरु से ज्ञान प्र बिना भी कुछ लोग ज्ञानी बन जाते हैं। एक किंवदंती के कालिदास को ऊपर से गिरने पर ज्ञान की प्राप्ति हुई।

राजकन्या विद्योत्तमा को अपनी विद्या पर बहुत गर्व था। को खत्म करने के लिए एक मूर्ख भट्टाचार्य के साथ उसकी शा गई। विद्योत्तमा ने अपने पति की विद्वत्ता को परखने के लिए पुस्तक दी और कहा 'इसमें जितनी गलतियां हैं, उन्हें शुद्ध क

पति ने हाथ में कलम लेकर अशुद्ध को शुद्ध करने के शुद्ध को अशुद्ध कर दिया। विद्योत्तमा ने जब यह देखा तो दुःख हुआ। 'ऐसे पति की अपेक्षा तो वैधव्य ही अच्छा है' हय उसने पति को धक्का दे दिया।

गिरते-गिरते पति के मुंह से निकला 'कालि! कालि!' क है कि उसको ऐसा कहने का पहले से अभ्यास था। दरिद्र होने वह बकरियां चराया करता था। और इतना मूर्ख था कि जिस बैठा, उसी को काटता। डाली टूटने पर वह जब नीचे बकरियों को संबोधित कर 'कालि! कालि!' पुकारता। इस पूर्ण इस बार भी उसने 'कालि! कालि!' की आवाज की। संयोग जहां वह गिरा, वहां काली देवी का मंदिर था। काली देवी ने कितना बड़ा भक्त है, जो गिरते समय भी मुझे याद रखता है!

संघ में आचार्य का स्थान

गई। तत्काल प्रकट होकर बोलीहूँ 'क्या चाहते हो?' वह बेचारा
स दुर्गति से दुखी था, अतः इसके मूल कारण को मिटाने के
लाहूँ 'देवि! मुझे विद्या दे।' बस, देवी के वरदान से वह बिना पढ़े
हो गया। अब वह प्रसन्न होकर अपने घर आया। पत्नी ने घर
अंदर से बंद कर रखा था। इसलिए वह मधुर शब्दों में बोलाहूँ

घाट विशालनेत्रे! समागतोऽहं कविकालिदासः।

पत्नी ने द्वार खोला तो सबसे पहले उसने वह पुस्तक लेकर शुद्ध
की इस विद्वत्ता को देख विद्योत्तमा को आश्चर्यमिश्रित खुशी
ही अपने दुर्व्यवहार के लिए अनुताप भी कम नहीं था। किंतु
अपनी पत्नी के इस दुर्व्यवहार को वरदान मान रहा था,
सके विद्वान बनने का निमित्त कारण पत्नी का वह दुर्व्यवहार ही था।

घटना कहां तक सत्य है, इस बारे में कुछ भी नहीं कहा जा
क्षेत्र के लिए हम ऐसा मान लें कि यह घटना सत्य है, फिर
तो सुनिश्चित है कि सबको इस प्रकार विद्या प्राप्त नहीं हो
विद्यार्जन के लिए तो आचार्य की भक्ति करनी ही पड़ेगी।

अपेक्षित है

आचार्य के प्रति शिष्यों की श्रद्धा हो, पर उसमें भी विवेक रहे।
का पक्षपाती मैं नहीं हूँ। अपने ज्ञान और चिंतन का भी सही
हो। निवेदन करने योग्य बात का निवेदन आचार्य के पास भी
हिए। हां, अपने ज्ञान और चिंतन का अहं न हो। बीच की
रहने से ही हित होता है।

का स्थान

वैकालिक और उत्तराध्ययन में आचार्य के गुणों का विस्तृत
है। जिस धर्मसंघ के आचार्य आचार-विचार से उन्नत हैं, वह
संघ है। जिस संघ में योग्य आचार्य नहीं होते, उसकी क्या
है, यह सब जानते हैं। शरीर में दिमाग का जो स्थान है, वह
संघ में आचार्य का है। अतः उनका स्वस्थ होना जरूरी है।

आचार्य को सबसे बड़ी चिंता रहती है उत्तराधिकारी के निर्वाचन
उत्तराधिकारी योग्य न हो तो युग-युग तक कहा जाता है कि
आचार्य हुए, जो अपने संघ का पूरा प्रबंध नहीं कर सके। आचार्य

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

स्वयं पूर्ण योग्य हैं, फिर भी योग्य उत्तराधिकारी के बिना उनके एक बड़ी कमी रह जाती है।

दुर्लभ विशेषताओंवाला संघ

तेरापंथ संघ दुर्लभ विशेषताओं से संपन्न रहा है। संघ की सत्ता आचार्य के हाथ में रहती है। संघ का हर काम उनकी दे होता है। स्वेच्छाचारिता को यह संघ बर्दास्त नहीं करता। संघ सदस्य आचार्य के अखंड अनुशासन में रहता है।

मूल की सुरक्षा जरूरी है

इस संघ के दो सौ वर्षों के इतिहास को देखने से लग इसके आचार्यों ने अपना पूरा दायित्व निभाया है। मूल को सुरक्षि हुए उन्होंने नया विकास भी किया है। कोई संघ नया विकास सके या न भी कर सके, पर मूल को सुरक्षित रखे, यह उसके के लिए जरूरी है। जो व्यापारी मूल पूंजी सुरक्षित नहीं रख होशियार व्यापारी नहीं माना जाता।

संघ-विकास और सक्षम नेतृत्व

तेरापंथ संघ के आचार्यों ने संघ की मर्यादाओं और विधि का पूरा-पूरा सम्मान किया है, उन्हें सुरक्षित रखा है। फल नेतृत्व में संघ का समुचित रूप में विकास होता रहा है। उ हमारे मस्तक सहज श्रद्धा से झुक जाते हैं।

वर्तमान आचार्य अतीत के प्रति निष्ठावान रहें, यह नितांत है। इससे शृंखला जुड़ी रहती है। अतीत को भूलने से विकास अवरुद्ध हो जाता है। मुझे लोग पूछते हैं कि आप आचार्यों जपते हैं क्या। मैं उन्हें समाहित करते हुए कहता हूं, जपने का पैदा होता है, जब उनकी विस्मृति हो जाए। हम किसी भी तीर्थंकरों और आचार्यों को भूल नहीं सकते।

किसी भी संघ के विकास के लिए उसे आचार्य के सक्ष की अनिवार्य अपेक्षा रहती है। मैं समय-समय पर दूसरे-दूसरे आचार्यों से मिलता रहता हूं। वार्तालाप के दौरान जब उनके मु इस प्रकार की शब्दावली सुनता हूं कि हम क्या कर सकते हैं, अच्छा नहीं लगता। उन क्षणों में मैं सोचने लगता हूं कि जब नेतृत्व हाथ में है, तब करणीय काम क्यों नहीं कर सकते। इस संघ में आचार्य का स्थान

ना है कि आचार्य यदि सौहार्द एवं सूझबूझ से अनुशासन और बागडोर अपने हाथ में रखें तो कोई कारण नहीं कि संघ के उनके इंगित/आदेश/निदेश/चिंतन की अवहेलना/उपेक्षा करें।

यह बात मैंने प्रासंगिक रूप में कही। मेरा मूल विषय चतुर्विध धर्मसंघ के कुशल मार्ग-दर्शन की दृष्टि का महत्त्व असंदिग्ध रूप में है। उसे कोई नकार नहीं सकता। अत्येक सदस्य का यह कर्तव्य है कि वह आचार्य के अनुशासन/न को हृदय से स्वीकार करे। इसी में संघ और व्यक्ति दोनों का फल है।

, दिल्ली
र १९६५

जागो ! निद्रा त्यागो !!

५७ : निश्चय और व्यवहार की समिति

व्यक्ति हर समय एक गति से नहीं चल सकता। मैदान और जंगल में समान गति से नहीं दौड़ सकता। इस तथ्य को जैन-दर्शन ने निश्चय और विशेष शब्दों से बताया है। सामान्यतः हर कार्य में एक गति सकती है, पर विशेष स्थिति में अपवाद भी रहता है।

निश्चयनय और व्यवहारनय

निश्चयनय और व्यवहारनय ये जैनों के दो पारिभाषिक शब्द हैं। निश्चयनय वास्तविक है, इसलिए इसे पारमार्थिक भी कहा जाता है। लेकिन व्यवहारनय में वास्तविकता नहीं होती, इसलिए वह व्यवहार्य है।

निश्चयनय और व्यवहारनय में अच्छा कौन-सा है, इसका उत्तर में किसी एक पर बल देना आग्रह है। आग्रह भी एक प्रकार का परिग्रह है। आग्रह से अपना बचाव करनेवाला निश्चय और व्यवहार दोनों को आधार मानकर चलता है।

व्यवहार का मूल्य

कई व्यक्ति इस भाषा में सोचते हैं कि जब निश्चय ही सत्य है तो व्यवहार में क्यों जाया जाए। पर मैं मानता हूँ कि सत्य व्यवहार के लिए किसी सीमा तक व्यवहार का आधार भी आवश्यक है। यात्री को ट्रेन पकड़ने के लिए स्टेशन जाना पड़ता है, वैसे ही व्यवहार तक पहुंचने के लिए व्यवहार का सहारा भी लेना पड़ता है।

इस व्यवहारनय को नहीं समझने के कारण व्यक्ति धर्मक्षेत्र से भटक जाता है। निश्चयनय की दृष्टि से आत्म-रमण ही धर्म है। आत्म-रमण के लिए आत्मा के स्वभाव को समझना भी आवश्यक है। और स्वभाव को समझने के लिए प्रवचन या शब्द अपेक्षित है।

जो स्वयंबुद्ध होते हैं, उनके लिए शब्द या शब्दप्रयोक्ता की आवश्यकता नहीं है।

संघ में आचार्य का स्थान

। उनकी चेतना स्वयं उदबुद्ध हो जाती है। लेकिन जो स्वयंबुद्ध, वे सर्वज्ञ के वचनों से संबुद्ध होकर पथ को प्राप्त करते हैं।

ल और संदर्भ को समझें

त-से लोग शास्त्र को ही प्रमाण मानते हैं। लेकिन वहां भी देश, र स्थिति को समझना जरूरी है। कौन-सा शब्द किस समय रक्षा से किस संदर्भ और किस भूमिका में कहा गया है, यह च्य रहता है। शास्त्रों में आर्यक्षेत्र के विषय में पूर्व और पश्चिम ाओं का निर्धारण है। युगों तक वह निर्धारण मान्य रहा। न सीमाओं से बाहर जाना निषिद्ध रहा, क्योंकि आर्यक्षेत्र से न, दर्शन और चारित्र की साधना में विघ्न पैदा होता है, हास लेकिन जब इस संदर्भ में गहरा चिंतन-मनन किया गया तो हमें वह सामयिक परिस्थिति थी। तब बाहर जाने के अनेक बाधाएं आर्यक्षेत्र की एक सीमा का निर्धारण कर दिया गया। लेकिन संदर्भ में आर्यक्षेत्र की अग्रोक्त परिभाषा अधिक संगत लगती *ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि हो, वह आर्यक्षेत्र है।* इस में आर्यक्षेत्र की सीमा का विस्तार हो जाता है। अतः हमें गंगा कि शब्द एक दृष्टि से काम के हैं। पर उनके सहारे हमें ता है, भटकना नहीं है।

संप्रदाय

क्या है? आत्म-रमण ही धर्म है। धर्म आत्मा से पृथक नहीं हो धर्म-शून्य जीवन अर्थ-शून्य हो जाता है। लेकिन परधर्म में धर्म पण करना भूल है जैन, वैष्णव आदि संप्रदाय हैं। इन्हें हम न्न गुरुओं की परंपरा-व्यवस्था कह सकते हैं। व्यवस्था को मानने से स्थिति नहीं उलझती। किंतु जहां व्यवस्था को धर्म ा जाता है, वहां स्थिति उलझनपूर्ण हो जाती है। आज धार्मिक उभरनेवाली बहुत-सी उलझनें इसी भूल का परिणाम हैं। मैं, संप्रदायों के संस्कारों को दृढ़ करना जड़ता है। अपेक्षा है, ण के संस्कारों को पुष्ट करने की। जहां ये संस्कार पुष्ट होते हैं, णी प्रकार की उलझन नहीं खड़ी हो सकती।

शब्द अनेकार्थक होता है, इसलिए भिन्न-भिन्न स्थानों पर वह न्न अर्थों में व्यवहृत होता है। जहां हम वक्ता की विवक्षा को रखकर उसका अर्थ करते हैं, वहां किसी प्रकार की कठिनाई

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

पैदा नहीं होती। परंतु जहां विवक्षा को नहीं समझा जाता, वहां पैदा होना बहुत स्वाभाविक है। उदाहरणार्थ, भोजन के **सैन्धवमानय**हयह शब्दावली सुनकर यदि कोई सिंधु देश का आए तो बात एकदम बिगड़ जाएगी। हालांकि इस शब्दावली अर्थ यह भी होता है, पर भोजन के संदर्भ में इसका अर्थह्नम है। इसलिए भोजन के समय नमक की विवक्षा से ही अर्थ ग्रहण जाता है।

सिद्धांत और व्यवहार

इस विषय से हटकर मैं एक बात और कहना चाहता हूँ। शास्त्रों के शब्दों को तो बहुत मूल्य देते हैं, पर उनके प्रतिपादित सिद्धांतों को जीवनगत बनाने में विशेष रुचि नहीं मानता हूँ, सिद्धांत वे उपयोगी हैं, जो हमारे जीवन का हिस्सा बन सकें। केवल शब्दों तक सीमित रहनेवाले सिद्धांत हमारे जीवन का साधन नहीं साध सकते। कुछ वर्षों पूर्व की एक घटना मेरी स्मृति में आती है। एक घटना बिहार प्रांत की है। एक स्थान पर मेरा प्रवचन हुआ। एक ईसाई पादरी भी उपस्थित थे। प्रवचनोपरांत पादरी साहब मेरे पास आए और प्रवचन की मुक्त-कंठ प्रशंसा करने लगे। मैं तटस्थ रहकर उनको सुनता रहा। बोलते-बोलते सहसा अपना विषय बदलते हुए मुझसे पूछाह 'आचार्यजी! आपने बाइबिल पढ़ी है?' मैंने कहाह 'हाँ, कई स्थल देखे हैं।' वे बोलेह 'बाइबिल में महाप्रभु यीशु ने एक उंची बात बताई है।' मैंने उनकी बात से सहमति जताते हुए कहाह 'संसार के सभी महापुरुषों ने बहुत अच्छी-अच्छी बातें बताई हैं, मेरी इस सहमति से उन्हें संतोष नहीं हुआ। बोलेह 'नहीं, महाप्रभु ने एक इतनी उंची बात कही है, जो किसी ने भी नहीं कही है।' मैंने पूछाह 'ऐसी कौन-सी बात है?' उन्होंने कहाह 'महाप्रभु ने कहा है कि के साथ तो मित्रता का व्यवहार करो ही, शत्रु के साथ भी मित्रता का व्यवहार करो। आचार्यजी! आपने इतनी उंची बात अन्यत्र कही है।' मुझे पादरी साहब का यह सांप्रदायिक व्यामोह अस्वीकार लगा। मैंने कहाह 'निश्चय ही यह बहुत उंचा सिद्धांत है, पर महावीर की वाणी में मैंने एक इससे भी उंची बात पढ़ी है।' पादरी इस बात को सुनने के लिए भी तैयार नहीं हुए। उन्होंने कहाह 'उंची बात और कोई हो ही नहीं सकती।' मैंने कहाह 'सुनो, मैं निश्चय और व्यवहार की समन्विति—

भगवान महावीर ने कहा है कि संसार में सब तुम्हारे मित्र हैं।
अपना दुश्मन मानो ही मत। पादरी साहब! अब आप ही
दुश्मन के साथ मित्रता का व्यवहार करना ज्यादा बड़ी बात है या
शत्रु मानना ही नहीं, यह ज्यादा बड़ी बात है? पहले किसी
माना जाए और फिर उसके साथ मित्रता का व्यवहार किया
उससे क्या यह ज्यादा अच्छी बात नहीं है कि व्यक्ति किसी को
ही नहीं?'

यह बात सुन पादरी साहब सन्न रह गए। उनका चेहरा सहसा
सुन्न गया। एक-दो क्षण रुककर मैंने फिर कहा 'पादरी साहब!
श्रीशु ने क्या कहा, यह जानना और उसका गौरव गाना निश्चय
की बात है। पर इससे भी ज्यादा महत्त्व की बात यह है कि
सिद्धांतों को जीवनगत और व्यवहारगत कहां तक बनाया जाता है।
चाहता हूँ, ऐसे कितने ईसाई हैं, जो दुश्मन के साथ मित्रता का
करते हैं? ऐसे कितने जैन हैं, जो किसी को अपना शत्रु मानते
तत्त्वतः केवल ऊंचे-ऊंचे सिद्धांतों की दुहाई देने से कोई धर्म
हो जाता, उससे हमारा कोई हित नहीं सधता। हमारा हित तो
यह है, जब उसके ऊंचे-ऊंचे सिद्धांत हमारे जीवन में उतरें। धर्म
व्यवहारगत सिद्धांत ही जीवन को प्रकाश दे सकते हैं, सुख और
अनुभव करा सकते हैं।'

ओ! आप लोगों के लिए भी यह बहुत गहराई से समझने की
जब तक आप धर्म के सिद्धांतों को व्यवहार्य नहीं बनाते, तक
को उसका सही रस नहीं आ सकता। धर्म निश्चय ही व्यक्ति के
सौभाग्य का सूरज उगानेवाला तत्त्व है। पर है तभी, जब वह
के धरातल पर उतर आए। केवल ऊंचे-ऊंचे आदर्शों के गीत
व्यक्ति अपने अभीप्सित लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकता। अणुव्रत
व्यावहारिक धरातल पर लाने का कार्यक्रम है। आप इसे समझें
झंझकर आचरण के स्तर पर स्वीकार करें। निश्चय ही आपका
सौभाग्य-सूरज की रश्मियों से प्रभासित हो उठेगा। आप अपने
को धन्यता अनुभव करने लगेंगे।

रमण ही धर्म है

पुनः मैं अपने मूल विषय पर आता हूँ। धर्म का सीधा-सा
आत्म-रमण करना। दूसरे शब्दों में कहूँ तो स्वभाव में रमण

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

करना। जो व्यक्ति स्वभाव में रमण करने लगता है, उसके जीवन मूर्त हो जाता है, वह स्वयं धर्म का मूर्त रूप बन जाता है। पर हमें निश्चय और व्यवहार दोनों नयों को सामने रखना होगा। निश्चय की बात करने से काम नहीं होगा, क्योंकि हम व्यवहार रहे हैं। हमारे एक मुनि कहते हैं कि स्वभाव में रमण करना ही त्याग, तपस्या आदि कुछ नहीं हैं। मैं कहता हूँ कि स्वभाव करना धर्म है। यह बात ठीक है, पर यह निश्चयनय की बात निश्चय के साथ व्यवहार को भी देखना होगा। व्यवहार की त्याग, तपस्या आदि भी धर्म के तत्त्व हैं। एकांत निश्चय निश्चय की भूमिका में ही उपयोगी हो सकती है। जहां हम व्य धरातल पर खड़े हैं, वहां हमें दोनों का समन्वय कर चलना और जो व्यक्ति स्वभाव और विभाव के भेद को समझने की स्थिति है, उसको सीधे स्वभाव-रमण की बात कहने का क्या अर्थ है? उसके लिए जरूरी है कि हम पहले उसको स्वभाव और विभाव का स्वरूप समझाएं, आत्म-रमण की भूमिका में पहुंचने अपेक्षित प्रारंभिक साधना-प्रक्रियाओं से परिचित करवाएं।

जैनदर्शन-सम्मत आत्म-विकास की चौदह भूमिकाओं में भूमिकाएं पार हो जाने के बाद सहजता की स्थिति बनती है उससे पहले अभ्यास करना पड़ता है। अतः हम आत्मरमण या रमण के लिए भी निश्चय और व्यवहार दोनों को स्वीकार कर

सब्जीमंडी, दिल्ली

२७ नवंबर १९६५

निश्चय और व्यवहार की समन्विति

: समस्याओं का समाधानहचेतना-जागृति*

ज हम वर्तमान की समस्याओं को लेकर परिचर्चा कर रहे हैं। मैं हूँ, परिचर्चकों के विचारों में कोई वैमत्य नहीं है। लगभग सभी हैं। बावजूद इसके, एक समस्या मौजूद है। वह समस्या के क्रियान्वयन की। विचारों का क्रियान्वयन किस प्रकार है, यह एक प्रश्न है। जब तक इस प्रश्न का उत्तर नहीं खोजा जाता, जब तक विचारों को क्रियात्मक रूप नहीं मिल सकता। विचारों को क्रियात्मक रूप देने के लिए कोई-न-कोई समाधान खोजना ही होगा।

हर युग के साथ जुड़ी है

इस बात को समझें कि ऐसा कोई भी समय नहीं होता, समस्याएं न हों। अतीत में समस्याएं थीं, वर्तमान में हैं और भविष्य में नहीं रहेंगी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। देश, काल और युग के अनुसार समस्याएं आती रहती हैं। उनका मुकाबला मुख्य का काम है। वह व्यक्ति कायर और कमजोर होता है। भगवान से प्रार्थना करे कि मुझे समस्याओं से बचाएं। ऐसे और कमजोरों को सहायता नहीं मिल सकती। शक्तिशाली को ही सहायता मिलती है, शक्तिहीन को नहीं।

संवर्धन ही समाधान है

सदों को इस बात को गंभीरता से समझना है कि भारतवर्ष यदि मुहताज रहेगा तो वह कभी सशक्त नहीं बन सकेगा। जो स्वयं सशक्त है, उसे दूसरी शक्तियां खुद सहयोग करने लगती हैं। अतः हमें स्वयं की शक्ति का संवर्धन कर आत्म-साहस के साथ समस्याओं का मुकाबला करने की। इससे समस्याएं स्वयं समाधान की ढूंढ लेगी।

समस्याओं के बीच प्रदत्त प्रवचन।

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

आज राष्ट्र के सामने सबसे बड़ी समस्या है अन्न के असीमा सुरक्षा और अर्थाभाव की समस्याएं भी प्रबल हैं। भ्रष्टाचार तरह से हावी हो रहा है। इन समस्याओं के समाधान के लिए अन्न-उत्पादन और खाद्य संयम की बात सोची जा रही है, उन्मूलन का कार्य चल रहा है, शस्त्र तथा सैन्यशक्ति बढ़ाने का भी हो रहा है तथा अर्थ-प्राप्ति के स्रोत भी खोजे जा रहे हैं।

परस्पर टकराती समस्याएं

समाधान खोजने में भी उलझन यह है कि एक समस्या से टकराती है। एक का समाधान खोजते हैं तो दूसरी धारण कर लेती है। उस समय व्यक्ति का दिमाग काम नहीं करता उसे क्या करना चाहिए।

पिता अपनी पुत्री के ससुराल गया। पुत्री से कुशल पूछ बोलीह 'पिताजी! आपकी कृपा से खूब आनंद-मंगल है। मैं सब सुखी हूं। लेकिन एक कठिनाई है। आप जानते हैं कि हमारे बर्तनों का व्यापार है। हजारों बर्तन तैयार हो रहे हैं। पर आकाश मंडरा रहे हैं। कहीं वर्षा हो गई तो हमारे सारे बर्तन बेकार हो अतः एक पक्ष तक वर्षा न आए तो ठीक रहे।'

पिता कुछ सोचता हुआ अपनी दूसरी लड़की के ससुराल और उससे भी कुशल पुछा। पुत्री बोलीह 'पिताजी! सब तरह है। लेकिन एक कठिनाई है। बादल मंडरा-मंडराकर भी बरसते नहीं पास हजारों बीघे जमीन है। जमीन की बुवाई हो चुकी है। अ दिनों में वर्षा नहीं हुई तो सब-कुछ चौपट हो जाएगा।'

दोनों पुत्रियों की समस्याएं सुनकर पिता उलझ गया किसका हित सोचे और किसका अहित। यद्यपि वर्षा का होना, उसके हाथ की बात नहीं थी, तथापि जहां दो स्वाध टकराते हैं, वहां व्यक्ति का दिमाग काम नहीं करता।

चेतना-जागृति

आप लोगों के समक्ष भी ऐसी-सी ही स्थिति है। समस्या टकरा रही हैं। पर मुझे प्रसन्नता है कि आप लोग फिर भी नि हैं, प्रत्युत समस्याओं का समाधान ढूंढने के लिए प्रयत्नशील संदर्भ में एक बात मैं भी बताना चाहता हूं, जो आपके हाथ में

समस्याओं का समाधानहचेतना-जागृति

य में है। उससे प्रत्येक समस्या का सुगमता से हल मिल सकता है। हैह्नसार्वजनिक चेतना-जाग्रति। चेतना एक ऐसा तत्त्व है, जिसके जाने के बाद कुछ अवशेष रहता ही नहीं।

ना-जाग्रति का अर्थ हैह्नसंयम-शक्ति का विकास। संयम-शक्ति इस विभिन्न समस्याओं का समाधान देने में सक्षम है। आज मैं इस्यों के बीच बोल रहा हूं। सांसद राष्ट्र की क्रीम होते हैं। पांच सबकी आंखें उन पर टिकी रहती हैं। उनमें सहज संयम-शक्ति इस हो तो स्वस्थ राष्ट्र का निर्माण हो सकता है।

विचारणीय बात यह है कि अधिकतर सदस्य ऐसे होते हैं, जो चिंता में लगे रहते हैं। राष्ट्र का हित-चिंतन करनेवाले सदस्य होते हैं। यह कोई अन्यथा आरोपण नहीं, बल्कि यथार्थ के अंकन है। आप भी यथार्थ के धरातल पर खड़े होकर अंकन अवश्य मेरी बात से सहमत होंगे। मैं मानता हूं कि पहले कुर्सी का हो, काम बाद मेंहइस मान्यता को प्रोत्साहन मिलने से खड़ी हो जाती है। यदि प्रधानमंत्री से लेकर एक साधारण सांसद चिंतन यह रहे कि राष्ट्र में मेरा क्या उपयोग हो सकता है, तो या का समाधान मिल सकता है।

वर्तन अपेक्षित है

ना-जाग्रति के बाद दूसरा काम हैह्नमूल्य-परिवर्तन का। सत्ता, प्रतिष्ठा के स्थान पर संयम को महत्त्व दिया जाए। इस मूल्य-से बहुत-सी समस्याएं स्वयं समाहित हो जाएंगी। जहां सत्ता, भन और प्रतिष्ठा से व्यक्ति का संतुलन बिगड़ जाता है, वहीं शक्ति के संतुलन को बनाए रखता है। अतः संयम/त्याग को प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए।

आंदोलन की कार्य-दिशा

मुद्रत-आंदोलन का सबसे बड़ा काम मूल्य-परिवर्तन का है, के विकास का है। हालांकि इसके पास न सत्ता है और न श्रित ही है। यह तो अपने पैरों पर खड़ा रहकर ही अपने ढंग कर रहा है। इसके बावजूद मूल्य-परिवर्तन और संयम-शक्ति के क्षेत्र में इसने थोड़े समय में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की बात की मुझे प्रसन्नता है। मैं देखता हूं, सरकारी और अर्द्ध-

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

सरकारी कमेटियों में हजारों-लाखों रुपये खर्च हो जाते हैं, उसके अनुपात में बहुत थोड़ा होता है। कहीं-कहीं तो खो और निकली चुहिया वाली कहावत भी चरितार्थ हो जाती। परिप्रेक्ष्य में सीमित साधनों के अंतर्गत अणुव्रत का कार्य और भी उल्लेखनीय हो जाता है।

चार सूत्रीय कार्यक्रम

अणुव्रत-आंदोलन जीवन के हर छोटे-से-छोटे पक्ष पर गंभीर चिंतन करता है। भले इसका नाम अणु है, पर यह विराट् तत्व का प्रयास करता है। इसको हिंदू, मुस्लिम, ईसाई, सिक्ख आदि का समर्थन प्राप्त है। अब तक अणुव्रत के कार्यक्रमों में प्रसारात्मक रहा, अतः मुख्य रूप से विचार-क्रांति हुई। अब विचार-क्रांति साथ रचनात्मक कार्यों पर बल दिया जा रहा है। उस योजना का रूप देने के लिए अणुव्रत विहार ने चार काम प्रमुख रूप से लिए हैं— १. शिक्षण २. प्रशिक्षण ३. अनुसंधान ४. प्रयोग।

विद्यार्थियों को प्रारंभ से ही नैतिक शिक्षण देने की आवश्यकता है। जब तक शिक्षण नहीं मिलता, तब तक कोई भी काम व्यवहार में हो सकता। थोड़े-से प्रयत्न से सैकड़ों उच्च माध्यमिक विद्यालयों में पाठमाला का शिक्षण प्रारंभ हो गया है।

शिक्षण के लिए अध्यापकों को तैयार करना जरूरी है। प्रशिक्षित अध्यापक ही विद्यार्थियों को सम्यक रूप से शिक्षित कर सकते हैं।

नैतिकता की अपेक्षा क्या है, यह अनुसंधान करना भी जरूरी है, क्योंकि आवश्यकता समझे बिना कोई भी चिंतनशील व्यक्ति जीवन को महत्त्व कैसे दे सकता है? अनुसंधान के साथ प्रयोग भी चाहिए। प्रयोगात्मक अभ्यास के लिए अध्यात्म-साधना-केंद्र का कार्यरूप में परिणत हो रही है। इन कार्यों में हमें सभी लोगों का सहयोग मिलना चाहिए। वह भविष्य में भी मिलता रहे, ऐसी अपेक्षा की जाती है।

हालांकि दिल्ली के इस पांच महीनों के प्रवास में मैं व्यक्तियों से बहुत अधिक लोगों से नहीं मिला हूँ, लेकिन पत्रकारों के सहयोग से करोड़ों व्यक्तियों से मिल चुका हूँ। मैं मानता हूँ, यहां दो दिनों का काम हो सकता है, वह शायद ग्रामों में छह महीनों में भी न हो पाएगा।

समस्याओं का समाधान—हृदय-चेतना-जागृति

कार्यक्रमों को मैं महत्त्व की दृष्टि से देखता हूँ। अब मैं यहां से रहा हूँ। मैं भले विदा होऊँ, पर **सर्वजनहिताय** हमारा कार्यक्रम हो, यह अपेक्षित है। मुझे इस बात की सात्त्विक प्रसन्नता है कि कार्यक्रम ने यहां अच्छी गति पकड़ी है। मेरा विश्वास बोलता यह इसी गति से चलता रहा तो निश्चित रूप से इसके बहुत परिणाम आएंगे। इस कार्यक्रम को आगे बढ़ाते रहने में आपके सहयोग की आशा रखता हुआ विराम लेता हूँ।

मी

र १९६५

जागो ! निद्रा त्यागो !!

५९ : आचार्यों के अतिशेष

धर्मसंघ में आचार्य और उपाध्याय का सर्वाधिक महत्त्व है उनके पांच अतिशेषों का उल्लेख प्राप्त है।

१. आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय में पैरों की धूलि को यज्ञ झाड़ते हुए, प्रमार्जित करते हुए आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते।
२. आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय में ही उच्चार-प्रश्न व्युत्सर्ग और विशोधन करते हुए आज्ञा का अतिक्रमण करते।
३. आचार्य और उपाध्याय की इच्छा पर निर्भर है कि साधु की सेवा करें या न करें। न करने पर भी वे अतिक्रमण नहीं करते।
४. आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय में एक या दो रात अतिशेष हुए आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते।
५. आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय से बाहर एक या दो रात अतिशेष रहते हुए आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते।

इससे आचार्य-उपाध्याय का महत्त्व स्वयं स्पष्ट है। सामान्य साधवियां इस प्रकार का व्यवहार नहीं कर सकती। यदि वे ऐसा करते तो आज्ञा का अतिक्रमण हो जाता है। इस संदर्भ में सबसे महत्वपूर्ण बात है सेवा की। आचार्य संघ की अपेक्षा को ध्यान में रखकर साधवियों की सेवा के लिए नियुक्ति करते हैं। यदि समर्थ साधु सेवा देने से इनकार कर जाएं तो वे प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

जो व्यक्ति अपने परिवार और माता-पिता से संबंध तोड़ने को गुरु-चरणों में समर्पित कर देते हैं, उनकी सुरक्षा और संरक्षण का दायित्व आचार्य पर रहता है। शारीरिक अस्वस्थता की स्थिति में हर सदस्य को सेवा की अपेक्षा रहती है।

समस्याओं का समाधानहृचेतना-जाग्रति

छ दृढसंहननी मुनि ऐसे भी होते हैं, जो दूसरों को सेवा देते तो लेते नहीं। वे प्रतिज्ञा कर लेते हैं 'मैं किसी से शारीरिक सेवा नहीं लूंगा।' उन्हें अपनी आत्मशक्ति पर गहरा विश्वास होता है। मृगचर्या कहलाती है। जिस प्रकार जंगल में रहनेवाले मृग जानने पर किसी से सेवा नहीं लेते, प्राकृतिक वातावरण से स्वयं प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार दृढप्रतिज्ञा मुनि तपस्या के स्थूल-लाभ करते हैं।

आ भी चिकित्सा है

प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धांतानुसार बीमारी की अवस्था में दवा देने से बीमारी स्वयं शांत हो जाती है। वैज्ञानिक प्रयोगों से प्रमाणित हो गया है। अभी जब हम दिल्ली से यहां आ रहे हैं, रास्ते में अमरीकावासी श्री बुडलेंड केलर सपत्नीक आए। इससे उन्होंने बंबई (मुंबई) में दर्शन किए थे। विलंब से आने का कारण उन्होंने बताया कि आने की तीव्र इच्छा के बावजूद बीमारी के कारण नहीं आ सके। उन्होंने आगे बताया कि हमने अपनी तपस्या से मिटाई है। एक, दो और तीन दिन के उपवास हमने औषध-प्रयोग नहीं किया।

के पास दो कुतिया थीं। उनके बारे में वे बोले कि जब बीमार होती हैं तो हम इन्हें उपवास कराते हैं। आज कई बार बीमार हुई हैं, पर हमने दवा कभी नहीं दी। वस्तुतः खाना नहीं देने से रोग को पोषण नहीं मिलता। फलतः वह प्राप्त हो जाता है।

तो मैं आपसे विशेष अभिग्रहधारी मुनियों की बात कह रहा हूँ। दूसरों से सेवा नहीं लेते। विशेष स्थिति में भी नहीं लेते। पर ऐसे मुनि और दृढ मनोबली साधु थोड़े ही हो सकते हैं, सब नहीं। साधुओं को तो समय पर सेवा लेना आवश्यक हो जाता है। मुनि को उनकी अपेक्षा को ध्यान में रखते हुए सेवा की व्यवस्था करनी पड़ती है।

जीवन में परस्परता का बहुत महत्त्व है। अतः साधारणतया मुनि सेवा लेना चाहे और स्वस्थ मुनि सेवा न दे तो उसे मिलाता है। लेकिन आचार्य इस नियम के अपवाद हैं। इस दृष्टि से न्यायी होते हैं। वैसे आचार्य को शारीरिक सेवा देने की इतनी

—जागो ! निद्रा त्यागो !!

अपेक्षा भी नहीं है। सैकड़ों साधु-साध्वियों को संयम का सहयोग आचार्य ही तो होते हैं। संघ के सभी साधु-साध्वियों के ज्ञान समाधि और सुविधा का ध्यान रखना, उन्हें संयम-पालन में देना अपने-आपमें सबसे बड़ी सेवा है।

साधना के दो रूप

साधनाशील साधु संघीय व्यवस्थाओं को ध्यान में रखकर साधना करते हैं। साधना व्यक्तिगत भी हो सकती है और संघ की कई व्यक्तियों की मान्यता है कि संघबद्ध साधना शुद्ध नहीं हो सकती। संघ में मर्यादाओं का पालन अनिवार्य होता है। अनिवार्य विधि वहाँ जहाँ बलात स्वीकार किया जाता है, वहाँ हिंसा होती है, अतः साधु को संघ से नहीं जुड़ना चाहिए।

इसके ठीक विपरीत कई व्यक्ति ऐसा मानते हैं कि साधना हो ही नहीं सकती। व्यक्तिगत साधना में अनेक बाधाएँ आती हैं। अकेला व्यक्ति गलती करे तो कोई उसे सचेष्ट करनेवाला भी नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति साधना कैसे कर सकता है।

इस संदर्भ में मेरा अभिमत यह है कि अपेक्षाभेद से साधनाक्रम ठीक हैं। सामान्यतः संघबद्ध साधना का क्रम ही मान्य है। पर विशेष साधना के लिए विशेष परिस्थितियों में एकाकी साधना विधि भी स्वीकृत रही है। एकाकी साधना का निदेश *दशवैकालिक सूत्र* में कहा गया है—

न या लभेज्जा निउणं सहायं,
गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
एक्को वि पावाइं विवज्जयंतो,
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो॥

हृत्तु गुणाधिक या तुल्यगुणी निपुण सहायक न मिलने

अकेला ही पापकर्मों का वर्जन करता हुआ साधना करे

इससे मालूम होता है कि एकाकी साधना की बात शास्त्र में नहीं है। बावजूद इसके, इतना स्पष्ट है कि यह सामान्य विधि नहीं है। आचार्य की विशेष आज्ञा से या विशेष परिस्थिति में ही इसका स्वीकार किया जा सकता है। सामान्य विधि संघबद्ध साधना की है। यदि कोई प्रकृति न मिलने के कारण या अनुशासन/मर्यादा

आचार्यों का अतिशेष

कर सकने के कारण अकेला रहता है तो दुर्बलता है, भगवान का अतिक्रमण है। वर्तमान में एकाकी साधना की विधि नहीं है। जैन-शास्त्र ऐकांतिक बात को स्वीकार नहीं करते। विधि-विधान उत्सर्ग-अपवाद का पूरा-पूरा विवेक दिया गया है। बहुत-सी बातें हैं, जिन्हें सामान्य स्थिति में करने की विधि नहीं है, आज्ञा पर आपवादिक स्थिति में आज्ञा दी गई है। साधना के संदर्भ में योग या संघबद्ध साधनाक्रम का ऐकांतिक आग्रह उचित नहीं है। साधना के लिए अकेले रहना निषिद्ध है, पर आचार्य, उपाध्याय के नियम में अपवाद रखा गया है, क्योंकि संघ के सर्वांगीण को ध्यान में रखकर आचार्य विशेष ध्यान, साधना और शक्ति से शक्ति का संचय करते हैं।

धर्मसंघ में आचार्य की जो विशेषता रही है, वह अन्यत्र एक सम्राट का जितना सम्मान नहीं होता, उससे भी अधिक के पात्र आचार्य होते हैं। हालांकि सब संघों की एक समान नहीं हो सकती, फिर भी इतना तो बहुत स्पष्ट है कि आचार्यों के विशेष बताए गए हैं।

अप्रैल १९६५

—जागो ! निद्रा त्यागो !!